प्रकाशक—

८।।(नाथूराम प्रेमी
मंत्री, मा० दि० जैन ग्रन्थमाला
हीराबाग बम्बई ४

दीपावली, वीरनिर्वाण सं० २४७७
वि० सं० २००७ सन् १९५०

मूल्य १॥)

मुद्रक—
अजितकुमार शास्त्री
अकलंक प्रेस
सदरबाजार देहली।

प्रकाशककी ओरसे

कविवर हस्तिमल्लके अञ्जनापवनंजय और सुभद्रा नाटकोंके बाद माणिकचन्द्र ग्रन्थमालाका यह ३१ वाँ ग्रन्थ स्याद्वादसिद्धि प्रकाशित होता है। इस ग्रन्थकी केवल एक ही हस्तलिखित प्रति मूडबिद्रीके जैनमठसे प्राप्त हुई थी और उसीके आधारसे न्यायाचार्य पंडित दरबारीलालजी कोठियाने इसका सम्पादन और संशोधन किया है। उन्होंने इसके लिए काफी परिश्रम किया है और ग्रन्थका परिचय तथा सारांश लिखकर उसे जिज्ञासुओंके लिए उपयोगी बना दिया है। इसके लिए वे धन्यवादके पात्र हैं। 'ज्ञानोदय' सम्पादक पं० महेन्द्रकुमारजीने प्रस्तावना लिखकर ग्रन्थमाला को बहुत ही उपकृत किया है।

ग्रन्थकर्ता और उसके समयके सम्बन्धमें सम्पादकने विस्तार से चर्चा की है और यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि वादीभसिंह ईसाकी आठवीं-नवीं शताब्दिके विद्वान् हैं परन्तु मेरी समझमें आदिपुराणोल्लिखित वादिसिंह और वादीभसिंह एक नहीं हैं और वादीभसिंह के गुरु पुष्पसेन और अकलंकदेवके अनुज पुष्पसेनकी एकता भी संदिग्ध है। यदि गद्यचिन्तामणि और क्षत्रचूडामणिके कर्त्ता ही स्याद्वादसिद्धिके रचयिता हैं तो वे उन पुष्पसेनके शिष्य थे जिनके संघका या जिनकी गुरुपरम्पराका कुछ पता नहीं है और जिनका पूर्व नाम ओडयदेव था। इस नामपरसे वे श्री टी० शेषगिरि राव एम० ए० के अनुमानके अनुसार गंजाम (उड़ीसा) के आस-पासके मालूम होते हैं और उनका समय विक्रमकी बारहवीं शताब्दिके लगभग होना चाहिए। मैंने अपने 'महाकवि वादीभसिंह' शीर्षक लेखमें* इन बातोंको विस्तार-

---

* जैन साहित्य और इतिहास पृ० ४७८-८२

प्राक्कथन

— ० —

भारतीय ज्ञानपीठ काशीकी अन्वेषण-शाखा द्वारा भंडार-सूची निर्माणके समय जो अनुपलब्ध ग्रंथ मिले थे उनमें वादीभसिंह सूरि द्वारा रचित स्याद्वादसिद्धि भी है। इसकी एकमात्र जीर्ण-शीर्ण खंडित प्रति मूडबिद्रीके जैन भंडारमें उपलब्ध हुई थी।

प्रसन्नताकी बात है कि यह कृति दिगम्बर जैन साहित्यकी उद्धारक प्राच्य संस्कृत-ग्रन्थावलि माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रंथमाला में इस विषयके अध्ययनप्रवण विद्वान् पं० दरबारीलालजी कोठिया न्यायाचार्य द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशमें आ रही है। दर्शनग्रंथोंके सम्पादनमें अब आन्तरिक विषय-परिचयका भी एक विभाग रहना चाहिए, जिसमें ग्रन्थगत विषयोंका मुद्देवार संक्षिप्त सार आ जाय। इससे जिज्ञासुओंकी तत्काल जिज्ञासा-तृप्ति तो होगी ही, साथ ही साथ इस साहित्यके प्रचार पठन-पाठन आदिकी ओर अभिरुचि भी जागृत होगी।

प्रस्तुत ग्रन्थका नाम तो स्याद्वादसिद्धि है पर इसमें जीवसिद्धि, सर्वज्ञसिद्धि, जगत्कर्तृत्वाभावसिद्धि आदि अनेक प्रकरण हैं। ग्रन्थकारका स्पष्ट आशय है कि सब प्राणी सुख चाहते हैं पर सुखके उपायका उन्हें ज्ञान नहीं है। अतः हम सुखका कारण धर्म और धर्मकर्तृत्व कैसे जीवके हो सकता है इसका निरूपण करते हैं। स्याद्वादके विषयभूत जीवमें ही धर्मका कर्तृत्व और उसके फलका भोक्तृत्व बन सकता है यह प्रतिपादन करनेके प्रसंगसे ही अन्य प्रकरणोंका निर्माण हुआ है।

अनेकान्त दर्शनकी पृष्ठभूमि—

ज्ञान सदाचारको जन्म दे सकता है यदि उसका उचित दिशामें उपयोग हो। अतः ज्ञान मात्रज्ञान होनेसे ही सदाचार और शान्तिदायकके पदपर नहीं पहुँच सकता। हाँ जो ज्ञान जीवन-साधनासे फलित होता है उस स्वानुभवरूप तत्त्वज्ञानरूप और जीवनोत्थापक सर्वोदयी ज्ञानका निर्विवादरूपसे स्वतः सिद्ध है। पर प्रश्न यह है कि तत्त्वज्ञानके बिना क्या केवल आचरण मात्रसे जीवनशुद्धि हो सकती है और उसकी धारा चल सकती है? क्या कोई भी धर्मपन्थ समाज या संघमें बिना तत्त्वज्ञानके सदाचार मात्रसे, जो कि प्रायः सामान्यरूपसे सभी धर्मोंमें संस्कृत है अपनी उपयोगिता और विशेषता बना सकता है? और अपने अनुयायियोंकी श्रद्धाको जीवित रख सकता है?

बुद्धका अव्याकृतवाद—

बुद्ध और महावीर समकालीन समदेश और सम-संस्कृतिके प्रतिनिधि थे। उक्त प्रश्नोंके सम्बन्धमें बुद्धका दृष्टिकोण था कि आत्मा लोक परलोक आदिके शाश्वत अशाश्वत आदि विचार निरर्थक हैं। ये न तो ब्रह्मचर्यके लिए उपयोगी हैं और न निर्वेद उपशम अभिज्ञा संबोध या निर्वाणके लिए ही।

मज्झिमनिकाय (२।२।३) के चूलमालुंक्यसुत्तका संवाद इस प्रकार है—

"एक बार मालुंक्यपुत्तके चित्तमें यह वितर्क उत्पन्न हुआ कि—भगवानने इन दृष्टियोंको अव्याकृत (अकथनीय) स्थापित (जिनका उत्तर रोक दिया गया) प्रतिक्षिप्त (जिनका उत्तर देना अस्वीकृत हो गया) कर दिया है—१ लोक शाश्वत है? २ लोक

अशाश्वत है ? ३ लोक अन्तवान् है ? ४ लोक अनन्त है ? ५ जीव और शरीर एक है ? ६ जीव दूसरा और शरीर दूसरा है ? ७ मरनेके बाद तथागत होते हैं ? ८ मरनेके बाद तथागत नहीं होते ? ९ मरनेके बाद तथागत होते भी हैं नहीं भी होते हैं ? १० मरनेके बाद तथागत न होते हैं न नहीं होते ? इन दृष्टियों को भगवान् मुझे नहीं बतलाते, यह मुझे नहीं रुचता=मुझे नहीं क्षमता। सो मैं भगवान्के पास जाकर इस बातको पूछूँ। यदि मुझे भगवान् कहेंगे तो मैं भगवान्के पास ब्रह्मचर्य-वास करूँगा। यदि मुझे भगवान् न बतलायेंगे तो मैं भिक्षु शिक्षाका प्रत्याख्यान कर हीन (गृहस्थाश्रम) में लौट जाऊँगा।

मालुक्यपुत्तने बुद्धसे कहा कि यदि भगवान् उक्त दृष्टियोंको जानते हैं तो मुझे बतायें। यदि नहीं जानते तो न जानने समझने के लिए यही सीधी (बात) है कि वह (साफ कह दें) मैं नहीं जानता, मुझे नहीं मालूम।"

बुद्धने कहा—

"क्या मालुक्यपुत्त मैंने तुमसे यह कहा था कि आ मालुक्यपुत्त, मेरे पास ब्रह्मचर्यवास कर, मैं तुझे बतलाऊँगा लोक शाश्वत है आदि।'

"नहीं, भंते" मालुक्यपुत्तने कहा।

"क्या तूने मुझसे यह कहा था—मैं भन्ते भगवानके पास ब्रह्मचर्यवास करूँगा, भगवान मुझे बतलायें लोक शाश्वत है आदि।'

'नहीं, भंते"

"इस प्रकार मालुक्यपुत्त न मैंने तुमसे कहा था कि आ……;

होगा तब तक संयम पंचमल व्यक्तियोंका मानस रागद्वेष आदि पङ्कभूमिकासे उठकर तटस्थ अहिंसाकी भूमिपर आ ही नहीं सकता और मानस संतुलनके बिना वचनोंमें तटस्थता और निर्दोषता आना संभव ही नहीं। कायिक आचार भले ही हमारा संयत और अहिंसक बन जाय पर इससे आत्मशुद्धि तो हो नहीं सकती। उसके लिये तो मनके विचारोंको और वाणीकी विशंखल प्रवृत्तिको रास्तेपर लाना ही होगा। इसी विचारसे अनेकान्त दर्शन तथा स्याद्वादका आविर्भाव हुआ। महावीर पूर्ण अहिंसक योगी थे। उनको परिपूर्ण तत्त्वज्ञान था। वे इस बातकी गम्भीर आवश्यकता समझते थे कि तत्त्वज्ञानके पायेपर ही अहिंसक आचारका भव्य-प्रासाद खड़ा किया जा सकता है। दृष्टान्तके लिये हम यहां हिंसा सम्बन्धी विचारको ही लें। याज्ञिकोंका यह दर्शन था कि पशुओंकी सृष्टि स्वयम्भूने यज्ञके लिये ही की है, अत यज्ञमें किया जाने वाला वध वध नहीं है, अवध है। इसमें दो बातें हैं—१ ईश्वरने सृष्टि बनाई है और २ पशुसृष्टि यज्ञके लिये ही है। अत यज्ञमें किया जाने वाला पशुवध विहित है।

इस विचारके सामने जब तक यह सिद्ध नहीं किया जायगा कि—"सृष्टिकी रचना ईश्वरने नहीं की है किन्तु यह अनादि है। जैसी हमारी आत्मा स्वयं सिद्ध है वैसी ही पशुकी आत्मा भी। जैसे हम जीना चाहते हैं हमें अपने प्राण प्रिय हैं वैसे ही पशुको भी। इस लोकमें किये गये हिंसाकर्मसे परलोकमें आत्माको नरकादि गतियोंमें दुःख भोगना पड़ते हैं। हिंसासे आत्मा मलिन होता है। यह विश्व अनन्त जीवोंका आवास है। प्रत्येकका अपना स्वतःसिद्ध स्वातन्त्र्य है अत मन वचन कायगत अहिंसक आचार ही विश्वमें शान्ति ला सकता है। तब तक किसी समझदारको यज्ञवधकी निःसारता, अस्वाभाविकता और पापरूपता कैसे समझमें आ सकती है।

क्रियाओंके आधारसे नाना आकारोंको धारण करते रहते हैं। प्रत्येक द्रव्य अनन्त धर्मोंका अभेदरूपी अखंड आधार है। उसके विराट् रूपको शब्दोंसे कहना असंभव है। उस अनन्तधर्मा या अनेकान्त वस्तुके एक-एक धर्मको जानकर और उस अंशमात्रमें पूर्णताका मान करने वाले ये मतवाद हैं जो पक्षभेदकी सृष्टि करके राग-द्वेष, संघर्ष हिंसाको बढ़ा रहे हैं। अतः मानस अहिंसाके लिए वस्तुके 'अनेकान्त' स्वरूप दर्शनकी आवश्यकता है। जब मनुष्य वस्तुके विराट् रूप तथा अपने ज्ञानकी आंशिक गतिको निष्पक्ष भावसे देखेगा तो उस मदमें ही यह मान हुए बगैर नहीं रह सकता कि—दूसरोंके ज्ञान भी वस्तुके किसी एक अंशको ग्रहण करते हैं अतः उनकी सहानुभूति-पूर्वक समीक्षा होनी चाहिए। अपने पक्षके दुरभिनिवेशवश दूसरेका बिना विचार तिरस्कार नहीं होना चाहिए। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा प्रत्येक वस्तुके विचार करनेकी पद्धति अनेकान्तदर्शनका ही फल है।

तात्पर्य यह कि प्रत्येक पदार्थ अपने अपने गुण और पर्याय रूपमें परिणमन करता हुआ अनन्त धर्मोंका युगपत् आधार है। हमारा ज्ञान स्वल्प है। हम उसके एक-एक अंशको छूकर उसमें पूर्णताका अहंकार—'ऐसा ही है' न करें, उसमें दूसरे धर्मोंके भी अस्तित्वको स्वीकार करें। यह है वह मानस उच्च भूमिका जिसपर आनेसे मानस राग द्वेष, अहंकार, पक्षाभिनिवेश, साम्प्रदायिक मतवाद, हठवाद, विमनस्क संघर्ष, हिंसा, युद्ध आदि नष्ट होकर पर-समादर, तटस्था सहानुभूति मध्यस्थभाव, मैत्री भावना, सहिष्णुता वीतरागकथा, अन्ततः विनय कृतज्ञता, दया आदि सात्त्विक मानस अहिंसाका उदय होता है। यही अहिंसक तत्त्वज्ञानका फल है। आचार्योंने ज्ञानका उत्कृष्ट फल उपेक्षा—राग-द्वेष न होकर मध्यस्थ अनासक्त भावका उदय ही बताया है।

स्याद्वाद अमृतभाषा—

इस तरह जब मानस अहिंसाकी सात्त्विक भूमिकापर यह मानव आजाता है तब इसके पशुका नाश हो जाता है, दानव मानवरूप बदल जाता है। तब इसकी वाणीमें सरसता स्नेह, नम्रता और निरहङ्कारता आदि आ जाते हैं। स्पष्ट होकर भी विनम्र और हृदयग्राही होता है। इसी निर्दोष भाषाको स्याद्वाद कहते हैं। स्यात्-वाद अर्थात् यह बात स्यात्—अमुक निश्चित दृष्टिकोणसे बात—कही जा रही है। यह 'स्यात्' शब्द सुसमुस यकीनी शायद संभवत कदाचित् जैसे संशयके परिवारसे अत्यन्त दूर है। यह अंश निश्चयका प्रतीक है और भाषाके उस दंशको नष्ट करता है जिसके द्वारा अंशमें पूर्णताका दुराग्रह, कदाग्रह और हठाग्रह किया जाता है। यह उस सर्वहारा प्रवृत्ति का समाप्त करता है जो अपने हकके सिवाय दूसरोंके अंश और अस्तित्वको समाप्त करके संघर्ष और हिंसाको जन्म देती है। यह स्याद्वाद रूपी अमृत उस महान अहंकार-विषमज्वरकी परमौषधि है जिसके आवेशमें यह मानवतनधारी तूफान या बवूलेकी तरह जमीनपर पैर ही नहीं टिकाता और जगत्में शास्त्रार्थ, वाद विवाद, धर्मदिग्विजय मतविस्तार जैसे आवरण रचता है। दूसरोंको बिना समझे ही नास्तिक पशु मिथ्यात्वी अपसद प्राकृत, ग्राम्य, मूढ आदि सभ्य गालियोंसे सम्मानित (?) करता है। 'स्याद्वाद' का स्थान अपनेमें सुनिश्चित है। और महावीरने अपने संघके प्रत्येक सदस्यकी भाषाशुद्धि इसीके द्वारा की। इस तरह अनेकान्तदर्शनके द्वारा मानसशुद्धि और स्याद्वादके द्वारा वचनशुद्धि होनेपर ही अहिंसाके बाह्याचार, ब्रह्मचर्य आदि सजीव हुए, इनमें प्राण आए और मन वचन और कायके सदाचारसे इनकी अप्रसाद परंगतिम अहिंसामन्दिरकी प्राणप्रतिष्ठा हुई। महावीरने चार

बार चेतावनी दी कि 'समयं गोयम मा पमायए'—गौतम! इस आत्ममन्दिरकी मायामयिताओंमें क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

आचारकी परम्पराका मुख्य आधार तत्त्वज्ञान —

इस तरह जब तक बुनियादी बातोंका तत्त्वज्ञान न हो तो केवल सदाचार और नैतिकताका उपदेश सुननेमें सुन्दर लगता है पर वह बुद्धि, तर्क, जिज्ञासा, मीमांसा समीक्षा और समालोचना की तृप्ति नहीं कर सकता। जब तक संशयके ये मानस विकल्प नहीं हटेंगे तब तक न बौद्धिक हीनता मानस दीनताके तामस भावोंसे त्राण नहीं पा सकते और चित्तमें यथार्थ निर्वैर वृत्तिका उदय नहीं कर सकते। जिस आत्माके यह सब होना है यदि उसके ही स्वरूपका भान न हो तो मात्र अनुपयोगिताका सामयिक समाधान शिष्योंके मुँहको बन्द नहीं रख सकता। आखिर मालुंक्य पुत्रने बुद्धको साफ साफ कह दिया कि आप यदि नहीं जानते तो साफ साफ क्यों नहीं कहते कि मैं नहीं जानता—मुझे नहीं मालूम।

जिन प्रश्नोंको बुद्धने अव्याकृत रखा उनका महावीरने अनेकान्त दृष्टिसे स्याद्वाद भाषामें निरूपण किया*। उन्होंने आत्माको द्रव्यदृष्टिसे शाश्वत, पर्यायदृष्टिसे अशाश्वत बताया। यदि आत्मा कूटस्थ, नित्य, सदा अपरिवर्तनशील माना जाता है तो पुण्य-पाप सब व्यर्थ हो जाते हैं क्योंकि उनका असर आत्मापर तो पड़ता नहीं। यदि आत्मा क्षण-विनश्वर और धाराविहीन, निःसन्तान, सर्वथा नवोत्पाद वाला है तो भी कृत कर्मकी निष्फलता होती है परलोक नहीं बनता। अतः द्रव्य-दृष्टिसे

* देखो प्रो० दलसुख मालवणिया लिखित जैनतर्कवार्तिककी प्रस्तावना।

ग्रन्थकार वादीभसिंहके समयके सम्बन्धमें सम्पादकने पर्याप्त ऊहापोह करके उनका समय ई० ७७० से ८६० तक सिद्ध किया है। साथ ही बाधकोंका निराकरण भी किया है। पर "अथ धारा निराधारा निरालम्बा सरस्वती" पदोंका साम्य आकस्मिक नहीं कहा जा सकता। और यही एक ऐसा बाधक है जो सन्देहको थोड़ा अवकाश देता है। पर यदि आदिपुराणकारने इन्हीं वादिसिंहका उल्लेख किया है तो उक्त संग्रह निराधार हो जाता है। ऐसी दशामें यही मानना होगा कि परिमल कविने यहाँसे इस परिमलका संचय किया होगा।

अन्तमें मैं सम्पादकके अध्यवसायकी सराहना करता हूँ और उनसे ऐसे ही अनेक ग्रन्थोंके संपादन-संशोधनकी आशा करता हूँ।

अन्तमें मैं समाज और साहित्यप्रकाशिनी संस्थाओंके संचालकोंसे एक निवेदन कर देना चाहता हूँ कि पुरातन आचार्यों की जीवन्त कृतियोंका उद्धार, सम्पादन-प्रकाशन आदि इस प्रकारकी भावनासे करें, 'इन्हें छपा कर क्या होगा? 'यदि ये न छपतीं तो क्या काम रुक जाता? 'छपा छपाकर रखने आज्ञा बिकती नहीं' आदि व्यापारिक भावनासे नहीं। साहित्यकार उस माँकी तरह है जो अपने ज्ञान-यौवनसे मानस-गर्भको धारण कर फिर साधनाके बाद एक विचार-शिशुको जन्म देती है। उसके गर्भ कालके मोजनके वजनसे उस शिशुको तौलना मातृत्वका अपमान करना है। वजनसे अन्न तो तौला जा सकता है पर उसकी चेतनाका भी क्या मोल-तोल किया जा सकता है? हम आज तक मनुष्य हैं जैन हैं और अहिंसा तथा अनेकान्तदर्शनकी ज्योतिसे अपने निर्मल जड़ हाथोंमें थामे हुए हैं। यह इन्हीं ग्रंथों की परम्पराका पुण्य फल है। अतः इस ज्योतिर्धरोंके स्नेहदान

का विसर्जन ये टिमटिमाते रहें और जगत्‌में अपने अस्तित्वका भान कराते हुए प्रकाशपर मुस्करायें।

समाजमें विद्वानोंकी संख्या सैकड़ोंमें है। पर इस ज्ञानयज्ञके होता कितने हैं? और समाजने बुद्धिपूर्वक कितनोंको इस ओर प्रेरित किया? यह प्रश्न ठंडे दिमाग उदारक वृत्तिसे सोचनेका है? आशा है इस नम्र और स्पष्ट निवेदन पर ध्यान जायगा।

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
९-८-५०

महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य
(स० मूर्तिदेवमाला भारतीय ज्ञानपीठ)

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
नैष्फल्य (प्रिया)	नैष्फल्य (ते)	२	१
सद्धेतुकता-	सद्धेतुक्ता	३	८
चिच्चेत	चिच्चेति	१२	११
कथंचरता-	कथंचैरता-	३२	१
सर्वेष	सर्वेषु	३४	१३
सर्वस्तत्र	सर्वस्तत्र	३४	१४
सर्वपत्रं	सर्वपति	३४	२२
तदुपमर्दनकार्या-	तदुपमर्दनं कार्या-	४०	२
गुणस्वरूपविरो-	गुणस्वरूपाविरो-	४०	१४
संशीत्व	संशीतत्व	४८	१८

सम्पादनके विषयमें

आरम्भ और पर्यवसान

सन् १९४७ में श्रीयुत पं० के० भुजबलिजी शास्त्री मूडबिद्रीकी कृपासे इस ग्रन्थकी प्रतिलिपि प्राप्त हुई। उस समय मैं अन्य ग्रन्थोंके सम्पादन-कार्यमें लगा हुआ था और इसलिये इसे सरसरी दृष्टिसे ही देख सका। इसके बाद यह कोई डेढ़ वर्ष तक वैसा ही पड़ा रहा। बादमें अवकाश मिलने पर इसे पुनः गौरसे देखा तो ग्रन्थ बहुत महत्त्वपूर्ण जान पड़ा, और तब अगस्त १९४८ के 'अनेकान्त' वर्ष ९, किरण ८ में 'वादीभसिंह सूरिकी एक अपूर्व अपूर्ण कृति—स्याद्वादसिद्धि' शीर्षक लेख द्वारा इस ग्रन्थका विस्तृत परिचय दिया और लिखा कि—'हम उस दिनकी प्रतीक्षामें हैं जब वादीभसिंहकी यह अमर कृति प्रकाशित होकर विद्वानोंमें अद्वितीय आदरको प्राप्त करेगी और जैनदर्शनकी गौरवमय प्रतिष्ठाको बढ़ावेगी। क्या कोई महान् साहित्य-प्रेमी इसे प्रकाशित कर महान् श्रेयका भागी बनेगा और ग्रन्थ-ग्रन्थकारकी तरह अपनी उज्ज्वल कीर्तिको अमर बना जायेगा?' इसे पढ़कर श्रद्धेय पं० नाथूरामजी प्रेमीने ३ नवम्बर १९४८ को हमें एक पत्र लिखा—

'क्या इसकी एक ही प्रति उपलब्ध है? जो प्रति उपलब्ध है क्या अकेली उसी परसे यह ग्रन्थ प्रकाशित किया जा सकता है? क्या आप उसको सम्पादित कर देनेके लिये समय निकाल सकते हैं? मैं सोचता हूँ कि यदि हो सके तो यह ग्रन्थ माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे छपा दिया जाय। इधर ६–७ वर्षसे ग्रन्थमालामें कोई ग्रन्थ नहीं छपा।

प्रेमीजीके इस पत्रको प्राप्त कर हमने इसके सम्पादनादिकी

उक्त महोदय स्वीकारता दे दी और ७ नवम्बर १९४८ को उसका कार्यारम्भ भी कर दिया। परन्तु ग्रन्थकी प्राप्त प्रतिलिपि बहुत ही अशुद्ध और त्रुटित होनेसे प्रकाशकों मूल ताडपत्रीय प्रतिसे, जो मूडबिद्रीके जैन-मठके भण्डारमें सुरक्षित है और जिसके वहाँ होनेका पता पीछे मालूम पड़ा, मिलान किये बिना उसे प्रेसमें देना उचित एवं इष्ट नहीं समझा। अतः उसे मंगानेके लिए हमने पं० के० भुजबलिजी शास्त्रीको पत्र लिखा। शास्त्रीजीने उक्त प्रति हमें तुरन्त भेज दी। पर यह प्रति कन्नड लिपिमें होने तथा सरस्वतीभवनके आसपास उसका कोई जानकार न होनेसे ग्रन्थका काम दो-ढाई महिने रुका पड़ा रहा। १८ फरवरी १९४९ को जब युक्त्यनुशासनके मिलानकार्यसे बनारस जाना पड़ा तो वहाँ पं० अमरभट्टजी न्यायाचार्यके साथ जो कन्नड तथा संस्कृत दोनोंके योग्य विद्वान् हैं इसका मूल प्रतिसे मिलान किया गया। मिलान करने पर प्रायः सभी अशुद्ध पाठ ठीक होगये और कुछ त्रुटित पाठ भी पूर्ण होगये क्योंकि मूल ताडपत्र प्रति प्रायः शुद्ध है और अच्छी तरह पढ़ी जाती है। मिलानसे जो सबसे बड़ा फायदा हुआ वह यह हुआ कि प्राप्त प्रतिलिपिमें जो चौदहवें प्रकरण-की ४७ से ५ तक १२ अर्थापत्तिसिद्धि प्रकरणकी ५६ से १५८ तक १५८ और अन्तिम प्रकरणकी ६ — १८८½ ये लगभग कारिकाएँ एवं उपलब्ध अन्तिम हैं-वां अभाव प्रकरण छूटे हुए थे वे सब इस मिलानसे प्रकाशमें आगये। आश्चर्यकी बात है कि इतनी कारिकाएँ एवं प्रकरण-का-प्रकरण लेखकने छोड़ दिये थे।

यहाँ उल्लेखनीय है कि हमारी मिलानके उपरान्त माननीय पं० मा० कृष्णकुमारजी न्यायाचार्यने भी इस ग्रन्थकी एक प्रतिलिपि प्राप्त होगई थी उन्होंने भारतीय ज्ञानपीठ काशीके लिये कन्नड शास्त्रागारसे कराई थी। इसमें उक्त सब कारिकाएँ व प्रकरण मौजूद हैं।

इस तरह ग्रन्थको मूल ताडपत्र प्रतिसे मिलानादि द्वारा प्रेसमें देने योग्य बनाकर उसे जुलाई १९४९ में अकलङ्क प्रेस, देहलीको छपनेके लिए दे दिया और ७ अप्रेल १९५० तक यह प्रस्तावनादि सहित छपकर तैयार होगया। किन्तु दुःख है कि कुछ विघ्न बाधाओं एवं कारणोंसे, जिनमें मेरे शिशुका जन्म लेकर १८ दिन बाद वियोग हो जाना भी एक खास कारण है और जिसने बहुत ही उत्साह भङ्ग किया ग्रन्थको जल्दी प्रस्तुत नहीं कर सके।

प्रति-परिचय

ग्रन्थके संशोधन और सम्पादनमें हमने मुख्यतः 'त', 'स' प्रतियों और कहीं-कहीं 'क' प्रतिका भी उपयोग किया है। इन तीनों प्रतियोंका परिचय इस प्रकार है —

१ त प्रति—यह ताडपत्रात्मक 'त' संज्ञक मूल ताडपत्रीय प्रति है जो 'स' 'क' दोनों प्रतियोंकी मातृप्रति है। मूडबिद्रीके जैन-मठके भण्डारमें जो ६०१ संख्याङ्कित ताडपत्रीय ग्रन्थ है और जिसमें २५६ पत्र हैं उसीमें यह 'स्याद्वादसिद्धि' है। उसमें यह २३६ वें पत्रसे २५६ वें पत्र तक है। बीचमें २४७ से ५३ तक ७ पत्र गायब (नष्ट) हैं। अतः उपलब्ध ग्रन्थका अंश २३६ से २४६ तक ११ और २५४ से २५६ तक ३ कुल ११+३=१४ पत्रोंमें पाया जाता है। इन १४ पत्रोंमें ६७० कारिकायें हैं। २५६ से आगेके पत्र उक्त ताडपत्र ग्रन्थमें नहीं हैं और इसलिए प्रस्तुत 'स्याद्वादसिद्धि' अपूर्ण एवं अधूरी ही उपलब्ध है। जो सात पत्र गायब हैं उनमें लगभग ३५० कारिकायें होनी चाहिए, क्योंकि एक-एक पत्रमें प्रायः ५०-५० कारिकायें पाई जाती हैं। यदि ये सात पत्र और होते तो ३५० + ६७० = १०२० कारिकाओंका यह एक अपूर्व दार्शनिक ग्रन्थ जैनवाङ्मयकी अद्वितीय निधि होता।

३. क प्रति—यह भारतीय ज्ञानपीठ काशीकी प्रति है, जो सुवाच्य तथा सुन्दर अक्षरोंमें लिखी हुई है और जो १०×३०/८ पेजी सफेद रफदार पुष्ट कागज पर नीली स्याहीमें लिखी है। इसका काशीमूलक 'क' नाम है। 'ख' प्रतिसे यह प्रति कम अशुद्ध है।

संशोधन और त्रुटित पाठपूर्ति

ऊपर कहा गया है कि आरम्भमें जो प्रति प्राप्त हुई थी उसमें बहुत अशुद्धियां, पाठभेद और त्रुटित पाठ विद्यमान हैं। इनका संशोधन हमने मूल ताडपत्र प्रतिके आधारसे किया है और संशोधनमें इससे बड़ी सहायता ली है। ताडपत्र प्रतिमें जो पाठ त्रुटित हैं और जिनकी संख्या बहुत बड़ी है उनमें सौ-पचासी त्रुटित पाठोंकी पूर्ति विषयसंगति, सन्दर्भ और प्रकरणके अनुसार हमने यथाशक्ति अपनी ओरसे करनेका प्रयत्न किया है और उन्हें [ ] ऐसे ब्रेकटमें रखा है। तथा शेषको समय एवं श्रमसाध्य जानकर छोड़ दिया है। उदाहरणके तौरपर कुछ पाठभेदात्मक संशोधनों और त्रुटित पाठोंकी पूर्तिको नीचे दिया जाता है, जिससे पाठक उनकी संगति एवं प्रामाणिकता आदिको कुछ जान सकेंगे:—

संशोधन—

त	म	क
दैत्यारिप्रद्वयो (७-१४)	दैत्यारिद्वया	दैत्योद्भूद्वयो
वक्तृत्वमाधत (८-७)	वक्तृत्वमाधन	वक्तृत्वमाधत
ह्यस्मान्यैवावकल्प्यते (१० १६)	न प्रतिभात्	ह्यस्मान्येव कल्प्यते
यद्वेशाप्ययर्न (१०-७)	यद्वेयनयं	यद्वेगनयं
दधुनेव मवादिति (१०-२७)	दधुने मवबन्धिति	स भणितम्।

हिन्दी-सारांश भी साथमें दे दिया है जिससे हिन्दी भाषाभाषी भी ग्रन्थके विषयों एवं तद्गत हार्दको समझ सकेंगे। विषयसूची भी साथमें निबद्ध है। उससे भी उन्हें लाभ पहुँचेगा।

३ अन्तमें दो परिशिष्ट भी लगाये गये हैं। इनमें एक स्याद्वादसिद्धिकी कारिकाओंके अनुक्रमका है और दूसरा ग्रन्थगत व्यक्ति-सिद्धान्त-सम्प्रदायादि बोधक विशेष नामोंकी सूचीका है।

४ पचीस पृष्ठकी विस्तृत प्रस्तावना है। उसमें ग्रन्थ और ग्रन्थकारके सम्बन्धमें विस्तारसे प्रकाश डाला गया है।

५ दर्शनशास्त्रोंके विशिष्ट अध्येता सम्पादक लेखक एवं समाजके ख्यातिप्राप्त विद्वान माननीय पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यका विचारपूर्ण प्राक्कथन भी निबद्ध है जिसमें उन्होंने जैन-दर्शनके प्रमुख सिद्धान्त एवं प्रस्तुत ग्रन्थके प्रतिपाद्य विषय 'स्याद्वाद' पर सुन्दर प्रकाश डाला है।

कृतज्ञता-प्रकाशन

इस ग्रन्थके कार्यमें हमें अनेक सहृदय महानुभावोंने भिन्न भिन्न रूपमें सहायता पहुँचाई है उसके लिये हम उनके अत्यन्त कृतज्ञ हैं। माननीय मुख्तारसाहब और प्रेमीजीने इसके सम्पादनादिके लिये उत्साहित किया तथा अपना अनुभवपूर्ण परामर्श दिया। सुमाननीय पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यने मेरे अनुरोधको स्वीकार करके अपना चिन्तनपूर्ण प्राक्कथन लिखनेकी कृपा की और सिद्धान्तके लिये काशी पहुँचने पर इस कार्यकी सराहना करते हुए प्रोत्साहन दिया। श्रीमान् पं० के० भुजबलि शास्त्री मूडबिद्रीने हस्त-लिखित तथा ताडपत्रीय प्रतियाँ भेजकर मुझे अनुगृहीत किया। प्रिय मित्र पं० अमृतलालजी जैनदर्शनाचार्य और पं० [illegible] न्यायाचार्यने मिलान कार्यमें

प्रस्तावना

स्याद्वादसिद्धि और वादीभसिंहसूरि

१ स्याद्वादसिद्धि

(क) ग्रन्थ-परिचय

इस ग्रन्थरत्नका नाम 'स्याद्वादसिद्धि' है। यह दार्शनिकशिरोमणि वादीभसिंहसूरिद्वारा रची गई महत्त्वपूर्ण एवं उच्चकोटिकी दार्शनिक कृति है। इसमें जैनदर्शनके मौलिक और महान् सिद्धान्त 'स्याद्वाद' का प्रतिपादन करते हुए उसका विभिन्न प्रमाणों तथा युक्तियोंसे साधन किया गया है। अतएव इसका 'स्याद्वादसिद्धि' यह नाम भी सार्थक है। यह प्रख्यात जैन तार्किक अकलंकदेवके न्यायविनिश्चय आदि जैसा ही कारिकात्मक प्रकरण ग्रन्थ है। किन्तु दुःख है कि यह विद्यानन्दकी सत्यशासनपरीक्षा' और हेमचन्द्रकी 'प्रमाणमीमांसा की तरह खण्डित तथा अपूर्ण ही उपलब्ध होता है। मालूम नहीं यह अपने पूरे रूपमें और किसी शास्त्रभण्डारमें पाया जाता है या नहीं। अथवा, ग्रन्थकार के अन्तिम जीवनकी यह रचना है जिसे वे स्वर्गवास हो जानेके कारण पूरा नहीं कर सके? मूडबिद्रीके जैनमठसे जो इसकी एक अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण और प्राचीन ताडपत्रीय प्रति प्राप्त हुई है तथा जो बहुत ही खण्डित दशामें विद्यमान है—जिसके अनेक पत्र मध्यमें और किनारोंपर टूटे हुए हैं और सात पत्र

तो बीचमें बिल्कुल ही गायब है उससे जान पड़ता है कि ग्रन्थकार ने इसे सम्भवतः पूरे रूपमें ही रचा है। और इसलिये यदि वह अभी नष्ट नहीं हुआ है तो असम्भव नहीं कि इसका अनुसन्धान होनेपर वह किसी दूसरे जैनेतर शास्त्रभण्डारमें मिल जाय।

यह प्रसन्नताकी बात है कि जितनी रचना उपलब्ध है उसमें १३ प्रकरण तो पूरे और १४ वाँ तथा आगेके २ प्रकरण अपूर्ण और इस तरह पूर्ण अपूर्ण १६ प्रकरण मिलते हैं। और इन सब प्रकरणोंमें (४+४४+७४+८३½+१९+२२+२२+२१ +२१+१६+ ८+१६+२ +७ +११८+१२=)६७० कारिकायें संनिबद्ध हैं। इससे ज्ञात हो सकता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ कितना महान और विशाल है। दुर्भाग्यसे अब तक यह विद्वत्संसारके समक्ष शायद नहीं आया और इसलिये अभी तक अपरिचित तथा अप्रकाशित दशामें पड़ा चला आया।

(ख) भाषा और रचनाशैली

दार्शनिक ग्रन्थ होनेपर भी इसकी भाषा विशद और बहुत कुछ सरल है। आप ग्रन्थको सावधानतासे पढ़ते जाइये विषय समझमें आता जायगा। हाँ कुछ स्थल भी ऐसे हैं जहाँ पाठकको अपना पूरा उपयोग लगाना पड़ता है और जिससे ग्रन्थकी प्रौढ़ता, विशिष्टता एवं अपूर्वताका भी कुछ अनुभव हो जाता है। यह ग्रन्थकारकी मौलिक स्वतन्त्र पद्यात्मक रचना है—किसी दूसरे गद्य या पद्यात्मक मूलकी व्याख्या नहीं है। इस प्रकारकी रचनाकी रचनेकी प्रेरणा उन्हें प्रमाणवार्तिक स्याद्वादविनिश्चयादि और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक तत्त्वसंग्रहादिसे मिली जान पड़ती है।

धर्मकीर्ति (६२५ई०) ने सम्बन्धपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा (ई० ६२५) ने बाह्यार्थसिद्धि धर्मोत्तर (ई० ७२५) ने परलोक-

सिद्धि और क्षणभङ्गसिद्धि तथा शङ्करानन्द (ई० ८००) ने अपोहसिद्धि और प्रतिबन्धसिद्धि जैसे नामोंवाले ग्रन्थ बनाये हैं और इनसे भी पहले स्वामी समन्तभद्र (विक्रमकी २ री, ३ री शती) और पूज्यपाद-देवनन्दि (विक्रमकी ६ ठी शती) ने क्रमशः जीवसिद्धि तथा सर्वार्थसिद्धि जैसे सिद्ध्यन्त नामके ग्रन्थ रचे हैं। सम्भवतः वादीभसिंहने अपनी यह 'स्याद्वादसिद्धि' भी उसी तरह सिद्ध्यन्त नामसे रची है।

(ग) विषय-परिचय

ग्रन्थके आदिमें ग्रन्थकारने प्रथमतः पहली कारिकाद्वारा मङ्गलाचरण और दूसरी कारिकाद्वारा ग्रन्थ बनानेका उद्देश्य प्रदर्शित किया है। इसके बाद उन्होंने विवक्षित विषयका प्रतिपादन प्रारम्भ किया है। वह विवक्षित विषय है स्याद्वादकी सिद्धि और उसीमें तत्त्वव्यवस्थाका सिद्ध होना। इन्हीं दो बातोंका इसमें कथन किया गया है और प्रसङ्गतः दर्शनान्तरीय मन्तव्योंकी समीक्षा भी की गई है।

इसके लिये ग्रन्थकारने प्रस्तुत ग्रन्थमें अनेक प्रकरण रचे हैं। उपलब्ध प्रकरणोंमें विषय-वर्णन इस प्रकार है —

१ जीवसिद्धि—इसमें चार्वाकको लक्ष्य करके सहेतुक जीव (आत्मा)की सिद्धि की गई है और उसे भूतसंघातका कार्य माननेका निरसन किया गया है। इस प्रकरणमें २४ कारिकाएँ हैं।

२ फलभोक्तृत्वाभावसिद्धि—इसमें बौद्धोंके क्षणिकवादमें दूषण दिये गये हैं। कहा गया है कि क्षणिक चित्तसन्तानरूप आत्मा धर्मादिजन्य स्वर्गादि फलका भोक्ता नहीं बन सकता क्योंकि धर्मादि करनेवाला चित्त क्षणध्वंसी है—वह उसी समय

भावात्मक हैं और वे नाना धर्म उसके उसी तरह वास्तविक हैं जिस तरह मिट्टीके स्थासादिक।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि स्वामी समन्तभद्रकी तरह विद्यानन्दने भी अनेकान्तके दो भेद बतलाये हैं¹—एक सहानेकान्त और दूसरा क्रमानेकान्त। और इन दोनों अनेकान्तोंकी प्रसिद्धि एवं मान्यताको उन्होंने श्रीगृद्धपिच्छाचार्यके 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' [त सू ५.३८] इस सूत्रवचनसे समर्थित किया है अथवा सूत्रकारके कथनको उक्त दो अनेकान्तोंकी दृष्टिसे सार्थक बतलाया है। अतः युगपदनेकान्त और क्रमानेकान्तरूप दो अनेकान्तोंकी प्रस्तुत चर्चा जैन दर्शनकी एक बहुत प्राचीन चर्चा मालूम होती है जिसका स्पष्ट उल्लेख इन दोनों विद्वानों द्वारा ही हुआ ज्ञात पड़ता है। यह प्रकरण ५५वें कारिकाओंमें समाप्त है।

४ भावैकान्ताभावसिद्धि—इसमें सर्वथा नित्यवादियोंके उपम करके उसके नित्यैकान्तकी समीक्षा की गई है। कहा गया है कि यदि आत्मादि वस्तु सर्वथा नित्य—कूटस्थ—सदा एक-सी रहने वाली—अपरिवर्तनशील हो तो वह न कर्ता बन सकती है और न भोक्ता। कर्ता माननेपर मोक्ष और भोक्ता माननेपर कर्ताके अभावका प्रसङ्ग आता है, क्योंकि कर्तापन और भोक्तापन ये दोनों क्रमवर्ती परिवर्तन हैं और वस्तु नित्यवादियोंद्वारा सर्वथा अपरिवर्तनशील—नित्य मानी गई है। यदि वह कर्तापनका त्याग कर भोक्ता बने तो वह नित्य नहीं रहती—अनित्य हो जाती है क्योंकि कर्तापन आदि वस्तुसे अभिन्न हैं।

---

¹ गुणवद्द्रव्यमित्युक्तं सहानेकान्तसिद्धये।
तथा पर्यायवद्द्रव्यं क्रमानेकान्तवित्तये ॥—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ४३८

यदि भिन्न हो तो व आत्माके सिद्ध नहीं होते, क्योंकि उनमें समवायादि कोई सम्बन्ध नहीं बनता। अतः निरपेक्षान्तमें आत्मादि मोक्षान्त आदिका अभाव सिद्ध है। इस प्रकरणमें २८ कारिकाएँ हैं।

६ सर्वज्ञाभावसिद्धि—इसमें नित्यवादी नैयायिक, वैशेषिक और मीमांसकोंका उपन्यास करके उनके स्वीकृत नित्यैकान्त प्रमाण (आत्मा-ईश्वर अथवा वेद) में सर्वज्ञताका अभाव प्रतिपादन किया गया है। इसमें २२ कारिकाएँ हैं।

७ जगत्कर्तृत्वाभावसिद्धि—इसमें ईश्वर जगत्कर्ता सिद्ध नहीं होता यह बतलाया गया है। इसमें भी २० कारिकाएँ हैं।

८ अर्हत्सर्वज्ञसिद्धि—इसमें सप्रमाण अर्हन्तको सर्वज्ञ सिद्ध किया गया है और विभिन्न वादियोंका निरसन किया गया है। इसमें २१ कारिकाएँ हैं।

९ अर्थापत्तिप्रामाण्यसिद्धि—नववाँ प्रकरण अर्थापत्तिप्रामाण्यसिद्धि है। इसमें सर्वज्ञादिकी साधक अर्थापत्तिको प्रमाण सिद्ध करते हुए उसे अनुमान प्रतिपादन किया गया है और उस अनुमानकी न्याय आवश्यकता बतलाई गई है। कहा गया है कि जहाँ अर्थापत्ति (अनुमान)का उत्थापक अन्यथानुपपन्नत्व अविनाभाव होता है वही साधन साध्यका गमक होता है। अतः पक्षधर्म न होने और अन्य पक्षधर्मत्वादि तीन रूपोंके होने पर भी 'वह श्याम होना चाहिये क्योंकि उसका पुत्र है, अन्य पुत्रोंकी तरह' इस अनुमानमें प्रयुक्त 'उसका पुत्र होना' रूप साधन अपने 'श्यामत्व' रूप साध्यका गमक नहीं है। अतः अर्थापत्ति अप्रमाण नहीं है—प्रमाण है और वह अनुमानस्वरूप है। इस

प्रकरणमें २३ कारिकाएँ हैं।

१० वेदपौरुषेयत्वसिद्धि—दसवाँ प्रकरण वेदपौरुषेयत्वसिद्धि है। इसमें वेदको युक्तिपूर्वक पौरुषेय सिद्ध किया गया है और उसकी अपौरुषेय मान्यताकी मार्मिक मीमांसा की गई है। यह प्रकरण ११ कारिकाओंमें समाप्त है।

११ परतःप्रामाण्यसिद्धि—ग्यारहवाँ प्रकरण परतःप्रामाण्यसिद्धि है। इसमें मीमांसकोंके स्वतःप्रामाण्य मतकी कुमारिलके मीमांसाश्लोकवार्तिक ग्रन्थके उद्धरणपूर्वक कड़ी आलोचना करते हुए प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द (आगम) प्रमाणोंमें युक्तिपूर्ण प्रामाण्य सिद्ध किया गया है। इस प्रकरणमें २८ कारिकाएँ हैं।

१२ अभावप्रमाणदूषणसिद्धि—बारहवाँ प्रकरण अभावप्रमाणदूषणसिद्धि है। इसमें सर्वज्ञका अभाव बतलानेके लिये भाट्टोंद्वारा प्रस्तुत अभावप्रमाणमें दूषण प्रदर्शित किये गये हैं और उसकी अतिरिक्त प्रमाणताका निराकरण किया गया है। इसमें १६ कारिकाएँ निबद्ध हैं।

१३ तर्कप्रामाण्यसिद्धि— तेरहवाँ प्रकरण तर्कप्रामाण्यसिद्धि है। इनमें अविनाभावरूप व्याप्तिका निश्चय करानाले तर्कको प्रमाण सिद्ध किया गया है और यह बतलाया गया है कि प्रत्यक्षादि दूसरे प्रमाणोंसे अविनाभावका ग्रहण नहीं हो सकता। इसमें २१ कारिकाएँ हैं।

१४ ——— चौदहवाँ प्रकरण अपूरा है और इसलिये इसका अन्तिम समाप्तिपुष्पिकावाक्य उपलब्ध न होनेसे यह ज्ञात नहीं होता कि इसका नाम क्या है? इसमें प्रधानतया वैशेषिकके गुण-गुणिभेदादि और समवायादिकी समालोचना

इसमें स्याद्वादका प्ररूपण और बौद्धदर्शनके अपोहादिका खण्डन होना चाहिए।

अन्य ग्रन्थकारों और उनके ग्रन्थवाक्योंका उल्लेख

ग्रन्थकारने इस रचनामें अन्य ग्रन्थकारों और उनके ग्रन्थवाक्योंका भी उल्लेख किया है। प्रसिद्ध मीमांसक विद्वान् कुमारिल भट्ट और प्रभाकरका नामोल्लेख करके उनके अभिमत भावना और नियोगरूप वेदवाक्यार्थका निम्न प्रकार खण्डन किया है—

> नियोग-भावनारूपं भिन्नमर्थद्वयं तथा।
> भट्ट-प्रभाकराभ्यां हि वेदार्थत्वेन निश्चितम्॥ ११०॥

इसी तरह अन्य तीन जगहोंपर कुमारिल भट्टके मीमांसाश्लोकवार्तिकसे 'वार्तिक' नामसे अथवा उसके बिना नामसे भी तीन कारिकाएँ उद्धृत करके समालोचित हुई हैं और जिन्हें ग्रन्थका अङ्ग बना लिया गया है। वे कारिकाएँ ये हैं—

(क) 'चोदनाजनितं सर्वं' तत्प्रामाण्यप्रदर्शकम्
तदप्रमाणवाक्यत्वात्बुद्धेव यथेष्टिम ॥[मी० श्लो० चो० का १८४]
इत्यस्मादनुमानात्ताहेरप्यपौरुषेयता। १०-१७।

(ख) 'स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्।
न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते॥'

—[मी० श्लो० सू० २ का ४७]

इति वार्तिकसद्भावात् ———————— १११।

(ग) 'शब्दे दोषोद्भवस्तावद्वक्त्रधीन इति स्थितिः।
तदभावः क्वचित्तावद् गुणवद्वक्तृकत्वतः॥'

—[मी० श्लो०सू० २ का ६२]

२ वादीभसिंहसूरि

(क) वादीभसिंह और उनका समय

ग्रन्थके प्रारम्भमें इस कृतिको वादीभसिंहसूरिकी प्रकट किया गया है तथा प्रकरणोंके अन्तमें जो समाप्तिपुष्पिकावाक्य[1] दिये गये हैं उनमें भी इसे वादीभसिंहसूरिकी ही रचना बतलाया गया है, अतः यह निसन्देह है कि इस कृतिके रचयिता आचार्य वादीभसिंह हैं।

अब विचारणीय यह है कि ये वादीभसिंह कौनसे वादीभसिंह हैं और वे कब हुए हैं—उनका क्या समय है? आगे इन्हीं दोनों बातोंपर विचार किया जाता है।

(१) आदिपुराणके कर्ता जिनसेनस्वामीने जिनका समय ई० ८३८ है, अपने आदिपुराणमें एक 'वादिसिंह' नामके आचार्यका स्मरण किया है और उन्हें उत्कृष्ट कोटिका कवि, वाग्मी तथा गमक बतलाया है। यथा—

> कवित्वस्य परा सीमा वाग्मित्वस्य परं पदम्।
> गमकत्वस्य पर्यन्तो वादिसिंहोऽर्च्यते न कैः ॥

(२) पार्श्वनाथचरितकार वादिराजसूरि (ई० १०२५) ने भी पार्श्वनाथचरितमें 'वादिसिंह' का समुल्लेख किया है और उन्हें

इसी तरह

> 'तस्मात् यस्य भावस्य यद् एवार्थितो गुणः ।
> इति तद्वान् विरोधस्य तत्र व्यक्तिविरुद्धम् ॥ ११-८ ॥

इस कारिकाका पूर्वार्ध भी धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिक १-४० का पर्याय है।

1 यथा—'इति श्रीमद्वादीभसिंहसूरिविरचितायां स्याद्वादसिद्धौ चार्वाकं प्रति जीवसिद्धिः ॥१॥ इत्यादि।

टिप्पणकारने आरम्भमें एक वादीभसिंहका उल्लेख निम्न प्रकार किया है—

'तदेवं महाभाग्यैस्तार्किकार्कैरुपज्ञातां श्रीमता वादीभसिंहेनोपलालितामाप्तमीमांसामलंचिकीर्षवः स्याद्वादोद्भासिसत्यवाक्यार्थविवेचकसमकारिकापरमपदकमलाः स स्वामी विद्यानन्दस्वामिनः प्रतिज्ञाश्लोकमेकमाह।' —अष्टसहस्री टि० पृ० १।

यहाँ लघुसमन्तभद्र (विक्रमकी १३ वीं शती) ने वादीभसिंहको समन्तभद्राचार्यरचित आप्तमीमांसाका उपलालन (परिपोषण) कर्ता बतलाया है। यदि लघुसमन्तभद्रका यह उल्लेख अभ्रान्त है तो कहना होगा कि वादीभसिंहने आप्तमीमांसापर कोई महत्त्वकी टीका लिखी है और उसके द्वारा आप्तमीमांसाका उन्होंने परिपोषण किया है। श्री पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने[1] भी इसकी सम्भावना की है और उसमें आचार्य विद्यानन्दके अष्टसहस्रीगत 'अत्र शास्त्रपरिसमाप्तौ केचिदिदं मङ्गलवचनमनुमन्यन्ते जयति जगति' आदि पद्यको प्रमाणरूपमें प्रस्तुत किया है। कोई आश्चर्य नहीं कि आप्तमीमांसापर विद्यानन्दके पूर्व लघुसमन्तभद्रद्वारा उल्लिखित वादीभसिंहने ही टीका रची हो और जिससे ही लघुसमन्तभद्रने उन्हें आप्तमीमांसाका उपलालनकर्ता कहा है और विद्यानन्दने 'केचित्' शब्दोंके साथ उन्हींकी टीकाके 'जयति' आदि समाप्तिमङ्गलको अष्टसहस्रीके अन्तमें अपने तथा अकलङ्कदेवके समाप्तिमङ्गलके पहले उद्धृत किया है।

(५) क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणि काव्यग्रन्थोंके कर्ता वादीभसिंह सूरि अतिविख्यात और सुप्रसिद्ध हैं।

---

१ न्यायकु० प्र० भा० प्रस्ता० पृ० १११।

(६) पं० के० भुजबलीजी शास्त्री[1] ई० १०९० और ई० ११४७ के नं० ३ तथा नं० ३७ के दो शिलालेखोंके[2] आधारसे एक वादीभसिंह (अपर नाम अजितसेन) का उल्लेख करते हैं।

(७) अजितसेनसूरिने भी सोमदेवकृत यशस्तिलक (आश्वास २, १२६) की अपनी टीकामें एक वादीभसिंहका निम्न प्रकार उल्लेख किया है और उन्हें सोमदेवका शिष्य कहा है—

'वादीभसिंहोऽपि मदीयशिष्यः

श्रीवादिराजोऽपि मदीयशिष्यः । इत्युक्तत्वाच्च ।'

वादिसिंह और वादीभसिंहके ये सात उल्लेख हैं जो अब तककी खोजके परिणामस्वरूप विद्वानोंको जैन साहित्यमें मिले हैं। अब देखना यह है कि ये सातों उल्लेख भिन्न भिन्न हैं अथवा एक? अन्तिम उल्लेखको प्रेमीजी[3] पं० कैलाशचन्द्रजी[4] आदि विद्वान् अभ्रान्त और विश्वसनीय नहीं मानते जो ठीक भी है, क्योंकि इसमें उनका हेतु है कि न तो वादीभसिंहने ही अपनेको सोमदेवका कहीं शिष्य प्रकट किया और न वादिराजने ही अपनेको उनका शिष्य बतलाया है। प्रत्युत वादीभसिंहने तो पुष्पसेन मुनिको और वादिराजने मतिसागरको अपना गुरु बतलाया है। दूसरे सोमदेवने उक्त वचन किस ग्रंथ और किस प्रसङ्गमें कहा यह सोमदेवके उपलब्ध ग्रन्थोंपरसे ज्ञात नहीं होता। अतः जबतक अन्य प्रमाणोंसे इसका समर्थन नहीं होता तबतक उसे प्रमाणकोटिमें नहीं रखा जा सकता।

---

१ देखो, जैनसिद्धान्तभास्कर भाग ६, कि० २ पृ० ७८।

२ देखो, ब्र० शीतलप्रसादजी द्वारा संकलित तथा अनुवादित 'मद्रास व मैसूर प्रान्तके प्राचीन स्मारक' नामक पुस्तक।

३ देखो, जैनसाहित्य और इतिहास पृ० ७८।

४ देखो, न्यायकुमुद० द्वि० भा० प्रस्ता० पृ० ११२।

शेष श्लोकोंमें मेरा विचार है कि तीसरा और छठा ये दो श्लोक अभिन्न हैं तथा उन्हें एक दूसरे वादीभसिंहके होना चाहिए, जिनका दूसरा नाम मल्लिषेणप्रशस्ति और निर्दिष्ट शिलालेखोंमें अजितसेन मुनि अथवा अजितसेन पण्डितदेव भी पाया जाता है तथा जिनके उक्त प्रशस्तिमें शान्तिनाथ और पद्मनाभ अपर नाम श्रीकान्त और वादिकोलाहल नामके दो शिष्य भी बतलाये गये हैं। इन मल्लिषेणप्रशस्ति और शिलालेखोंका लेखनकाल है ११२८, ई० १०५० और ई० ११४७ है और इसलिये इन वादीभसिंहका समय लगभग ई० १०६५ से ई० ११५० तक हो सकता है। बाकीके चार श्लोक—पहला, दूसरा चौथा और पांचवाँ प्रथम वादीभसिंहके होना चाहिये जिन्हें 'वादिसिंह' नामसे भी साहित्यमें उल्लेखित किया गया है। वादीभसिंह और वादिसिंहके अर्थमें कोई भेद नहीं है—दोनोंका एक ही अर्थ है। वादिरूपी गजोंके लिये सिंह और वादियोंके लिये सिंह एक ही बात है।

अब यदि यह सम्भावना की जाय कि क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणि काव्यग्रंथोंके कर्ता वादीभसिंहसूरि ही स्याद्वादसिद्धिकार हैं और इन्होंने आप्तमीमांसापर विद्यानन्दसे पूर्व कोई टीका अथवा वृत्ति लिखी है जो अष्टसहस्रीके उल्लेख तथा विद्यानन्दके 'वि०व० हरट' के साथ उद्धृत 'अवनि अगति' आदि पद्य परसे जानी जाती है तथा इन्हीं वादीभसिंहका 'वादिसिंह' नामसे जिनसेन और वादिराजसूरिने बड़े सम्मानपूर्वक स्मरण किया है। तथा 'स्याद्वादगिरमाश्रित्य वादिसिंहस्य गर्जितं' वाक्यमें वादिराजने 'स्याद्वादगिर' पदके द्वारा इन्हींकी प्रस्तुत स्याद्वादसिद्धि जैसी स्याद्वादविद्यासे परिपूर्ण कृतियोंकी ओर इशारा किया है तो कोई अनुचित मालूम नहीं होता। इसके औचित्यको सिद्ध करनेवाले नीचे कुछ प्रमाण भी उप-

छाप (अनुकृति) जान पड़ती है। इस प्रकारके प्रयत्नके जैनसाहित्यमें अनेक उदाहरण मिलते हैं। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि महान् दार्शनिक ग्रन्थोंके कर्ता आचार्य विद्यानन्दकी जैनसाहित्यमें जो भारी ख्याति और प्रसिद्धि है वैसी ही ख्याति और प्रसिद्धि ईसाकी १५ वीं शताब्दीमें हुए एक दूसरे विद्यानन्दकी हुम्मुचके शिलालेखों और वर्द्धमानमुनीन्द्रकृत दशभक्त्यादिमहाशास्त्रमें वर्णित मिलती है और जिससे विद्वानोंको इन दोनोंके ऐक्यमें भ्रम हुआ है जिसका निराकरण विद्यानन्दकी स्वोपज्ञ टीका सहित आप्त-परीक्षा की प्रस्तावनामें किया गया है[1]। हो सकता है कि प्रथम नामवाले विद्यानन्दकी तरह उसी नामवाले दूसरे विद्वान् भी प्रभावशाली रहे हों। अतः ९वीं-१०वीं शताब्दीसे १२वीं शताब्दी तक विभिन्न वादीभसिंहोंका अस्तित्व मानना चाहिए। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उक्त ग्रन्थोंके कर्ता वादीभसिंहके कवि और स्याद्वादी होनेके उनके ग्रन्थोंमें प्रचुर बीज भी मिलते हैं।

अब इनके समयपर विचार किया जाता है।

१ स्वामीसमन्तभद्रविरचित रत्नकरण्डक और आप्तमीमांसाका क्रमशः क्षत्रचूडामणि और स्याद्वादसिद्धिपर स्पष्ट प्रभाव है। यथा—

श्वापि देवोऽपि देवः श्वा जायते धर्मकिल्बिषात्।
— रत्नकरण्डक श्लोक २९।

श्वाना भविता श्वापि देवः श्वा धर्म-पापतः।
—क्षत्रचूडामणि ११-७७।

दुःखान्तकृतो स्वस्य परस्याकरस्य न क्वचित्॥ आप्त ९।
दुःखस्यादुःखतस्य च न बन्ध शान्तचित्तयो॥
—स्या० १-२०।

देखो प्रस्तावना ? ५।

अतः वादीभसिंहसूरि स्वामी समन्तभद्रके परवर्ती अर्थात् विक्रमकी दूसरी-तीसरी शताब्दीके बादके विद्वान् हैं।

२. अकलङ्कदेवके न्यायविनिश्चयादि ग्रन्थोंका भी स्याद्वादसिद्धिपर असर है जिसके तीन तुलनात्मक नमूने इस प्रकार हैं—

(१) असिद्धधर्मिधर्मत्वेऽप्यन्यथानुपपत्तिमान्।
हेतुरेव यथा सन्ति प्रमाणानीष्टसाधनात्॥
—न्यायविनि० का० १०६।

पक्षधर्मत्वहीनोऽप्यन्यथानुपपत्तिमान्॥
हेतुरेव यथा सन्ति प्रमाणानीष्टसाधनात्।
—स्या० ४-७८, ८०।

(२) समवायस्य वृत्तोऽस्य आकाशादिवदीक्षणे॥
अनन्यसाधनं सिद्धिरात्मा लोकेऽस्य निश्चिता॥
—न्यायवि० का० १०३, १०४

इह तन्तुषु वृत्तोऽयमिति सम्बन्धधीरियम्।
बुद्धिरीदृग्विधत्वात्कुतः स्वीति बुद्धिवत्॥ —स्या० ५-८।

(३) अधमता विपक्षेण अन्यथा नियमात्ययात्।
इत्य मत्स्य हितं वक्तुमिच्छा दोषवती कथम्॥
—न्यायवि० का० ३५६।

सार्वज्ञसाम्येष्वद्य तु विरागोऽप्यस्ति सा हि न।
रागाद् यद्वा तस्मात्तद्वक्तैव सर्ववित्॥ —स्या० ८-१०।

अतः वादीभसिंह अकलङ्कदेवके अर्थात् विक्रमकी सातवीं शताब्दीके उत्तरवर्ती विद्वान् हैं।

३ प्रस्तुत स्याद्वादसिद्धिके छठे प्रकरणकी ११ वीं कारिकामें भट्ट और प्रभाकरका नामोल्लेख करके उनके अभिमत भावना नियोगरूप वेदवाक्यार्थका निर्देश किया गया है। इसके अलावा कुमारिलभट्टके मीमांसाश्लोकवार्तिककी कई कारिकाएं भी उद्धृत

और मधु) तथा हिंसादि पाँच पापोंका त्याग विहित है। जिनसेनाचार्यने इस परम्परामें कुछ परिवर्तन किया और मधुके स्थानमें जुआको रखकर मद्य, मांस जुआ तथा पाँच पापोंके परित्यागको अष्ट मूलगुण बतलाया। इनके बाद सोमदेवने तीन मकार और पाँच उदुम्बर फलोंके त्यागको अष्ट मूलगुण कहा, जिसका अनुसरण पं० आशाधरजी आदि विद्वानोंने किया है। परन्तु वादीभसिंहने क्षत्रचूडामणिमें[1] स्वामी समन्तभद्र प्रतिपादित वह ही परम्पराको ही स्थान दिया है और जिनसेन आदिकी परम्पराओंको स्थान नहीं दिया। यदि वादीभसिंह जिनसेन और सोमदेवके उत्तरकालीन होते तो यह बहुत सम्भव था कि उनकी परम्पराका वह अथवा साथमें उन्हें भी देते। जैसा कि पं० आशाधरजी आदि उत्तरवर्ती विद्वानोंने किया है। इसके अलावा, जिनसेन (ई० ८३८) ने आदिपुराणमें इनका स्मरण किया है, जैसा कि पहले कहा जा चुका है। अतः वादीभसिंह जिनसेन और सोमदेवसे, जिनका समय क्रमशः ईसाकी नवमी और दशमी शताब्दी है, परवर्ती नहीं हैं—पूर्ववर्ती हैं।

२ न्यायमञ्जरीकार जयन्तभट्टने कुमारिलकी मीमांसाश्लोकवार्तिक गत 'वेदस्याध्ययनं सर्वं' इस वेदकी अपौरुषेयताको सिद्ध करनेके लिये उपस्थित की गई, अनुमानकारिकाका न्यायमञ्जरीमें सम्भवतः सब प्रथम 'भारताध्ययनं सर्वं' इस रूपसे खण्डन किया है जिसका अनुसरण उत्तरवर्ती प्रभाचन्द्र[2] अभयदेव[3]

---

१ अहिंसा सत्यमस्तेय स्वस्त्री-मितवसु-ग्रहौ।
मद्यमांसमधुत्यागैस्तेषां मूलगुणाष्टकम्॥ क्षत्र० ७-२३।

२ देखो, न्यायकुमुद पृ० ७११। प्रमेयक० पृ० ३८८।

३ देखो, सन्मति टी० पृ० ११।

ईसाकी ८ वीं और ९ वीं शताब्दीका मध्यकाल—ई० ७७० से ८६० सिद्ध होता है।

बाधकोंका निराकरण

इस समयके स्वीकार करनेमें दो बाधक प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं और वे ये हैं—

१ क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणिमें जीवन्धरस्वामीका चरित निबद्ध है जो गुणभद्राचार्यके उत्तरपुराण[1] (शक सं० ७७०, ई० ८४८) गत जीवन्धरचरितसे लिया गया है। इसका संकेत भी गद्यचिन्तामणिके निम्न पद्यमें मिलता है—

निःसारभूतमपि बन्धनतन्तुजातं,
मूर्ध्ना जनो वहति हि प्रसवानुषङ्गात्।
जीवन्धरप्रभवपुण्यपुराणयोगा-
द्वाक्यं ममाप्युभयलोकहितप्रदायि ॥१४॥

अतएव वादीभसिंह गुणभद्राचार्यसे पीछेके हैं।

२. सुप्रसिद्ध धारानरेश भोजकी झूठी मृत्युके शोकपर उनके समकालीन सभाकवि कालिदास, जिन्हें परिमल अथवा दूसरा कालिदास कहा जाता है, द्वारा कहा गया निम्न श्लोक प्रसिद्ध है—

अद्य धारा निराधारा निरालम्बा सरस्वती।
पण्डिताः खण्डिताः सर्वे भोजराजे दिवंगते ॥

और इसी श्लोकके पूर्वार्धकी छाया सत्यन्धर महाराजके शोकके प्रसङ्गमें कही गई गद्यचिन्तामणिकी निम्न गद्यमें पाई जाती है—

---

१ प्रेमीजीने जो इसे 'शक सं० ७०५ (वि० सं० ८४०) की रचना बतलाई है (देखो, जैनसा० और इति० पृ० ५८१) वह प्रेसादिकी गलती जान पड़ती है, क्योंकि उन्होंने इसे सम्भवतः शक सं० ७७०, ई० ८४८के लगभगकी रचना सिद्ध की है, देखो वहीं पृ० ५१४।

यथा निराबाधा वा निरालम्बा सरस्वती ॥"

मत वादीभसिंह राजा भोज (वि० सं० १०७६ से वि० ११ १) के बादके विद्वान हैं।

ये दो बाधक हैं जिनमें पहलेके प्रस्तावक महोदय पं० नाथूरामजी प्रेमी हैं और दूसरेके स्थापक श्रीकुप्पुस्वामी शास्त्री तथा समर्थक प्रेमीजी हैं। इनका समाधान इस प्रकार है—

१ कवि परमेष्ठी अथवा परमेश्वरने जिनसेन और गुणभद्रके पहले वागर्थसंग्रह नामका जगत्प्रसिद्ध पुराण रचा है[1] और जिसमें त्रेसठशलाका पुरुषोंका चरित वर्णित है तथा जिसे उत्तरवर्ती अनेकों पुराणकारोंने अपने पुराणोंका आधार बनाया है। स्वयं जिनसेन और गुणभद्रने भी अपने आदिपुराण तथा उत्तरपुराण इसीके आधारसे बनाये हैं यह प्रेमीजी स्वयं स्वीकार करते हैं[2]। तब वादीभसिंहने भी जीवन्धरचरित जो उक्त पुराणमें निबद्ध होगा उसी (पुराण) से लिया है यह कहनेमें भी कोई बाधा नहीं जान पड़ती।

गद्यचिन्तामणिका जो पद्य प्रस्तुत किया गया है उसमें सिर्फ इतना ही कहा है कि 'इसमें श्रीजीवन्धरस्वामीके चरितके उद्भावक पुण्यपुराणका सम्बन्ध होने अथवा मोक्षगामी जीवन्धरके पुण्य-चरितका कथन होनेसे यह (मेरा गद्यचिन्तामणिरूप वाक्य-समूह) भी उत्तम श्रोताओंके लिये हितकारी है। और वह पुण्यपुराण उपर्युक्त कविपरमेष्ठीका वागर्थसंग्रह भी हो सकता है। इसके सिवाय गद्यचिन्तामणिकारने इस जीवन्धरचरितको गद्यचिन्तामणि कहनेकी प्रतिज्ञा की है जिसे गणधरने कहा

१ देखो डा० ए० एन० उपाध्याय का 'कवि परमेश्वर या परमेष्ठी' शीर्षक लेख, जैनसि० भा० भाग १३ कि० २।

२ देखो जैनसाहित्य और इतिहास पृ० ४२१।

और अनेक सूरियों (आचार्यों) द्वारा जगतमें सम्यग्दर्शनादिके रूपमें प्रख्यापित हुआ है। यथा—

> इत्येवं गद्यमात्मकेन कथितं पुण्यात्मनं शृण्वतां
> तज्जीवन्धरवृत्तमत्र जगति प्रख्यापितं सूरिभिः ।
> विद्यास्फूर्तिविधायि धर्मप्रमनीयाधीगुणात्माधिनो
> वक्ष्ये गद्यमयेन वाङ्मयमुपायनेन वांछितदं ॥१२॥

दूसरे, यदि क्षत्रचूड़ामणि और गद्यचिन्तामणि वादीभसिंह सूरिकी अन्तिम रचनाएं हों तो गुणभद्र (ई० ८४८) के उत्तरपुराणका उनमें अनुसरण माननेमें भी कोई हानि नहीं है।

अत: वादीभसिंहको गुणभद्राचार्यका उत्तरवर्ती सिद्ध करनेके लिए जो उक्त हेतु दिया गया है वह वादीभसिंहके उपरोक्त समयका बाधक नहीं है।

२ दूसरी बाधाको उपस्थित करते हुए उसके उपस्थापक श्रीकुप्पुस्वामी शास्त्री और प्रेमीजी दोनों विद्वानोंको कुछ भ्रान्ति हुई है। वह भ्रान्ति यह है कि गद्यचिन्तामणिकी उक्त गद्यको सत्यन्धर महाराजके शोकके प्रसङ्गमें कही गई बतलाई है किन्तु वह उनके शोकके प्रसङ्गमें नहीं कही गई। अपितु काष्ठाङ्गारके हाथीको जीवन्धरस्वामीने पकड़ा मारा था, उससे क्रुद्ध हुए काष्ठाङ्गारके निकट जब जीवन्धरस्वामीको गन्धोत्कटने बांधकर भेज दिया और काष्ठाङ्गारने उन्हें वधस्थानमें लेजाकर फांसी देनेकी सजाका हुक्म दे दिया तो सारे नगरमें सन्नाटा छा गया और समस्त नगरवासी सन्तापमें मग्न होगये तथा शोक करने लगे। इसी समयकी उक्त गद्य है और जो चौथे लम्भमें पाई जाती है वहां सत्यन्धरका कोई सम्बन्ध नहीं है—उनका तो पहले लम्ब तक ही सम्बन्ध है। वह पूरी प्रकृतोपयोगी गद्य इस प्रकार है—

'अथ निराश्रया श्रीः निराधारा धरा निरालम्बा सरस्वती, निष्फलं लोकलोचनविधानम् निःसारः संसार नीरसा रसिकता निरास्पदा वीरता इति मिथः प्रवर्तयति प्रलापोद्गारिणी वाणीम्——' —पृ० १३१।

इस गद्यके पद-वाक्योंके विन्यास और अनुप्रासको देखते हुए यही प्रतीत होता है कि यह गद्य मौलिक है और वादीभसिंहकी अपनी रचना है। हो सकता है कि उक्त परिमल कविने इसी गद्यके पदोंको अपने उक्त श्लोकमें समाविष्ट किया हो। यदि उल्लिखित पद्यकी इसमें छाया होती तो 'अथ' और 'निराधारा धरा' के बीचमें 'निराश्रया श्रीः' यह पद फिर स्थान न पाता। छायामें मूल ही तो आता है। यही कारण है कि इस पदको शास्त्रीजी और प्रेमीजी दोनों विद्वानोंने पूर्वोल्लिखित गद्यमें उद्धृत नहीं किया—उसे अलग करके और 'अथ' को 'निराधारा धरा' के साथ जोड़कर उपस्थित किया है। 'अथ' पद दूसरे वाक्य भी उपरोक्त समयकी बाधक नहीं है।

(ख) पुष्पसेन और ओडयदेव

वादीभसिंहके साथ पुष्पसेन मुनि और ओडयदेवका सम्बन्ध बतलाया जाता है। पुष्पसेनको उनका गुरु और ओडयदेव उनका जन्म नाम अथवा वास्तव नाम कहा जाता है। इसमें निम्न पद्य प्रमाणरूपमें दिये जाते हैं—

> पुष्पसेनमुनिनाथ इति प्रतीतो
> दिव्यो मनुर्हृदि सदा मम संनिदध्यात्।
> यच्छक्तितः प्रकृतिमूढमतिर्जनोऽपि,
> वादीभसिंहमुनिपुङ्गवतामुपैति॥

* * *

श्रीमद्वादीभसिंहेन गद्यचिन्तामणिः कृतः ।
स्थेयादोडयदेवेन चिरायास्थानभूषणः ॥
स्थेयादोडयदेवेन वादीभहरिणा कृतः ।
गद्यचिन्तामणिर्लोके चिन्तामणिरिवापरः ॥

इनमें पहला पद्य गद्यचिन्तामणिकी प्रारम्भिक पीठिकाका छठा पद्य है और जो स्वयं ग्रन्थकारका रचा हुआ है। इस पद्य में कहा गया है कि 'वे प्रसिद्ध पुष्पसेन मुनीन्द्र दिव्य मनु—पूज्य गुरु मेरे हृदयमें सदा आसन जमाये रहें—वर्तमान रहें जिनके प्रभावसे मुझ जैसा निपट मूर्ख साधारण आदमी भी वादीभसिंह मुनिश्रेष्ठ अथवा वादीभसिंहसूरि बन गया। अतः यह स्पष्ट है कि वादीभसिंह सूरिके गुरु पुष्पसेन मुनि थे—उन्होंने उन्हें मूर्खसे विद्वान् और साधारण जनसे मुनिश्रेष्ठ बनाया था और इसलिए वे वादीभसिंहके दीक्षा और विद्या दोनोंके गुरु थे।

अन्तिम दोनों पद्य, जिनमें ओडयदेवका उल्लेख है, मुझे वादीभसिंहके स्वयंके रचे नहीं मालूम होते क्योंकि प्रथम तो जिस प्रशस्तिके रूपमें वे पाये जाते हैं वह प्रशस्ति गद्यचिन्तामणि की सभी प्रतियोंमें उपलब्ध नहीं है—सिर्फ तञ्जौरकी दो प्रतियों मेंसे एक ही प्रतिमें वह मिलती है। इसी लिए मुद्रित गद्यचिन्तामणिके अन्तमें वे अलगसे दिए गए हैं और श्रीकुप्पुस्वामी शास्त्री ने फुटनोटमें इस प्रकारकी सूचना की है। दूसरे, प्रथम श्लोक का पहला पाद और दूसरे श्लोकका दूसरा पद तथा पहले श्लोकका तीसरा पाद और दूसरे श्लोकका तीसरा पाद तथा पहले श्लोकका तीसरा पाद और दूसरे श्लोकका पहला पाद परस्पर अभिन्न हैं—पुनरुक्त हैं—इनसे कोई विशेषता ख्यापित नहीं होती और इसलिए ये दोनों शिथिल पद्य वादीभसिंह जैसे

उत्कृष्ट कविकी रचना प्रतीत नहीं होते। तीसरे, वादीभसिंहसूरिकी प्रशस्ति उनकी प्रकृति और परिणति भी प्रतीत नहीं होती। उनके क्षत्रचूडामणिमें भी वह नहीं है और स्याद्वादसिद्धि अपूर्ण है, जिससे उसके बारेमें कुछ कहा नहीं जा सकता। अतः उपर्युक्त दोनों पद्य हमें अन्यद्वारा रचित एवं प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं और इसलिए ओडयदेव वादीभसिंहका जन्म नाम अथवा वास्तव नाम था यह विचारणीय है। हां, वादीभसिंहका जन्म नाम व असली नाम कोई रहा जरूर होगा। पर वह क्या होगा इसके साधनार्थ कोई दूसरा पुष्ट प्रमाण ढूंढना चाहिए।

(ग) वादीभसिंहकी प्रतिभा और उनकी कृतियां

आचार्य जिनसेन तथा वादिराज जैसे प्रतिभाशाली विद्वानों एवं समर्थ ग्रन्थकारोंने आचार्य वादीभसिंहकी प्रतिभा और विद्वत्तादि गुणोंका समुल्लेख करते हुए उनके प्रति अपना महान् आदरभाव प्रकट किया है और लिखा है कि वे सर्वोत्तम कवि, उत्तम वाग्मी और अद्वितीय गमक थे तथा स्याद्वादविद्याके पारगामी और प्रतिवादियोंके अभिमानचूरक एवं प्रभावशाली विद्वान् थे और इसलिए वे सबके सम्मान योग्य हैं। इससे जाना जा सकता है कि आचार्य वादीभसिंह एक महान् दार्शनिक, वाग्मी कवि और दृष्टिसम्पन्न विद्वान् थे—उनकी प्रतिभा एवं विद्वत्ता बहुमुखी थी और उन्हें विद्वानोंमें अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त थी।

इनकी तीन कृतियां अब तक उपलब्ध हुई हैं। वे ये हैं—

१ स्याद्वादसिद्धि—प्रस्तुत ग्रन्थ है।

२ क्षत्रचूडामणि—यह उच्च कोटिका एक नीति काव्यग्रन्थ है। भारतीय काव्यसाहित्यमें इस जैसा नीति काव्यग्रन्थ

और कोई दृष्टिगोचर नहीं आया। इसकी सूक्तियाँ और उपदेश हृदयस्पर्शी हैं। यह पद्यात्मक रचना है। इसमें क्षत्रियमुकुट जीवन्धरके, जो भगवान महावीरके समकालीन और सत्यन्धर नरेशके राजपुत्र थे, चरित्रका चित्रण किया गया है। उन्होंने भगवानसे दीक्षा लेकर निर्वाण लाभ किया था और इससे पूर्व अपने शौर्य एवं पराक्रमसे शत्रुओंपर विजय प्राप्त करके नीति-पूर्वक राज्यका शासन किया था।

२ गद्यचिन्तामणि—यह म यकारकी गद्यात्मक काव्य-रचना है। इसमें भी जीवन्धरका चरित निबद्ध है। रचना बड़ी ही सरस सरल और अपूर्व है। पदलालित्य वाक्यविन्यास अनुप्रास और शब्दावलीकी छटा ये सब इसमें मौजूद हैं। जैन काव्यसाहित्यकी विशेषता यह है कि उसमें शृङ्गारका वर्णन होते हुए भी वह गौण—अप्रधान रहता है और विरागता एवं आध्यात्मिकता अन्त तथा मुख्य वर्णनीय होती है। यही बात इन दोनों काव्यग्रन्थोंमें है। काव्यग्रन्थके प्रेमियोंको ये दोनों काव्यग्रन्थ अवश्य ही पढ़ने योग्य हैं।

प्रमाणनौका और नवपदार्थनिश्चय ये दो ग्रन्थ भी वादीभ सिंहके माने जाते हैं। प्रमाणनौका हमें उपलब्ध नहीं हो सकी और इसलिये उसके बारेमें नहीं कहा जा सकता है कि वह प्रस्तुत वादीभसिंहकी ही कृति है अथवा उनके उत्तर वर्ती किसी दूसरे वादीभसिंहकी रचना है। नवपदार्थनिश्चय हमारे सामने है और जिसका परिचय अनेकान्त वर्ष १० किरण ४-५ में दिया गया है। इस परिचयमें हम इसी निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि यह रचना स्याद्वादसिद्धि जैसे प्रौढ ग्रन्थोंके रचयिता की कृति ज्ञात नहीं होती। ग्रन्थकी भाषा विषय और वर्णनशैली

प्राय उतनी प्रौढ नहीं है जितने उनमें हैं और न ग्रन्थका जैसा नाम है वैसा इसमें महत्त्वका विवेचन है—साधारण तौरसे नव पदार्थोंके मात्र लक्षणादि दिये गये हैं। ग्रन्थ-परीक्षणपरसे यह प्रसिद्ध और प्राचीन तर्क-ग्रन्थकार वादीभसिंहसूरिसे भिन्न और उत्तरवर्ती किसी दूसरे वादीभसिंहकी रचना जान पड़ती है। ग्रन्थके अन्तमें जो समाप्तिपुष्पिकावाक्य पाया जाता है उसमें इसे 'भट्टारक वादीभसिंहसूरि' की कृति प्रकट भी किया गया है[1]। यह रचना ७० अनुष्टुप और १ मालिनी कुल ७१ पद्योंमें समाप्त है। रचना साधारण और औपदेशिक है और प्रायः अशुद्ध है। विद्वानोंको इसके साहित्यादिपर विशेष विचार करके उसके समयादिका निर्णय करना चाहिए।

इस तरह ग्रन्थ और ग्रन्थकारके सम्बन्धमें कुछ प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया गया है। आशा है इस प्रयत्नसे पाठकों को कुछ लाभ पहुँचेगा।

जैन-पुस्तक भण्डार, —दरबारीलाल कोठिया,
२१ दरियागंज देहली (न्यायाचार्य)
७ अगस्त १९५०

---

१ इति श्रीमद्भट्टारकवादीभसिंहसूरिविरचितो नवपदार्थनिश्चयः।

स्याद्वादसिद्धि

हिन्दी-सारांश

१ जीव-सिद्धि

मङ्गलाचरण—श्रीवर्द्धमानस्वामीके लिये मेरा नम्र नमस्कार है जो विश्ववेदी (सर्वज्ञ) हैं, नित्यानन्दस्वभाव हैं और भक्तोंको अपने समान बनानेवाले हैं—उनकी जो भक्ति एवं उपासना करते हैं वे उन जैसे उत्कृष्ट आत्मा (परमात्मा) बन जाते हैं।

ग्रन्थका उद्देश्य—संसारके सभी जीव सुख चाहते हैं, परन्तु उसका उपाय नहीं जानते। अतः प्रस्तुत ग्रन्थद्वारा सुखके उपायका कथन किया जाता है क्योंकि बिना कारणके कोई भी कार्य उत्पन्न नहीं होता।

ग्रन्थारम्भ—यदि प्राणियोंको प्राप्त सुख दुःखादिरूप कार्य बिना कारणके हो तो किसीको ही सुख और किसीको ही दुःख क्यों होता है, सभीको केवल सुख ही अथवा केवल दुःख ही क्यों नहीं होता? तात्पर्य यह कि संसारमें जो सुखादिका वैषम्य—कोई सुखी और कोई दुःखी—देखा जाता है वह कारणभेदके बिना सम्भव नहीं है।

तथा कोई कफप्रकृतिवाला है कोई वातप्रकृतिवाला है और कोई पित्तप्रकृतिवाला है सो यह कफादिकी विषमतारूप कार्य भी जीवोंके बिना कारणभेदके नहीं बन सकता है और जो स्त्री आदिके सम्पर्कमें सुखादि माना जाता है वह भी

बिना कारणके असम्भव है क्योंकि स्त्री कहीं भक्षक—पालक का भी काम करती हुई देखी जाती है—किसीके वह विपरीत बनकर मारनेवाली भी होती है।

क्या बात है कि सर्वाङ्ग सुन्दर होनेपर भी कोई किसीके द्वारा ताड़न-बन्धन-छेदनादिको प्राप्त होता है और कोई तोता मैना आदि पक्षी अपने मालिकोंद्वारा भी रक्षित होते हुए बड़े प्रेमसे पाले पोसे जाते हैं?

अतः इन सब बातोंसे प्राणियोंके सुख-दुःखके अन्तरङ्ग कारण धर्म और अधर्म अनुमानित होते हैं। वह अनुमान इस प्रकार है—'धर्म और अधर्म हैं क्योंकि प्राणियोंको सुख अथवा दुःख अन्यथा नहीं हो सकता।' जैसे पुत्रके सद्भावसे उसके पितारूप कारणका अनुमान किया जाता है।

चार्वाक—अनुमान प्रमाण नहीं है क्योंकि उसमें व्यभिचार (अर्थके अभावमें होना) देखा जाता है?

जैन—यह बात तो प्रत्यक्षमें भी समान है क्योंकि उसमें भी व्यभिचार देखा जाता है—सीपमें चाँदीका, रस्सीमें सर्पका और बालोंमें कीड़ोंका प्रत्यक्षज्ञान अर्थके अभावमें भी देखा गया है और इस लिये प्रत्यक्ष तथा अनुमानमें कोई विशेषता नहीं है जिससे प्रत्यक्षको तो प्रमाण कहा जाय और अनुमानको अप्रमाण।

चार्वाक—जो प्रत्यक्ष निर्बाध है वह प्रमाण माना गया है और जो निर्बाध नहीं है वह प्रमाण नहीं माना गया। अतः एव सीपमें चाँदी आदि प्रत्यक्षज्ञान निर्बाध न होनेसे प्रमाण नहीं हैं?

जैन—तो जिस अनुमानमें बाधा नहीं है—निर्बाध है उसे भी प्रत्यक्षकी तरह प्रमाण मानिये क्योंकि प्रत्यक्षविरोधकी तरह-

अनुमानविशेष भी निर्बाध सम्भव है। जैसे हमारे सद्भावसे पितामह (बाबा) आदिका अनुमान[1] निर्बाध माना जाता है।

इस तरह अनुमानरूप प्रमाण सिद्ध हो जानेपर उसके द्वारा धर्म और अधर्म सिद्ध हो जाते हैं क्योंकि कार्य कर्ताकी अपेक्षा लेकर ही होता है— उसकी अपेक्षा किये बिना वह उत्पन्न नहीं होता और तभी वे धर्माधर्म सुख-दुःखादिके जनक होते हैं। अतः कार्यापत्तिरूप अनुमान प्रमाणसे हम सिद्ध करते हैं कि— धर्मादिका कर्ता जीव है, क्योंकि सुखादि अन्यथा नहीं हो सकते। प्रकट है कि जीवमें धर्मादिसे सुखादि होते हैं अतः वह उनका कर्ता है, था और आगे भी होगा और इस तरह परलोकी नित्य आत्मा (जीव) सिद्ध होता है।

जीवकी सिद्धि एक दूसरे अनुमानसे भी होती है और वह निम्न प्रकार है:—

'जीव पृथिवी आदि पंच भूतोंसे भिन्न तत्त्व है, क्योंकि वह सत् होता हुआ चैतन्यस्वरूप है और अहेतुक (नित्य) है।'

आत्माको चैतन्यस्वरूप माननेमें चार्वाकोंको भी विवाद नहीं है, क्योंकि उन्होंने भी भूतसंहतिसे उत्पन्न विशिष्ट कार्य को ज्ञानरूप माना है। किन्तु ज्ञान भूतसंहतिरूप शरीरका कार्य नहीं है क्योंकि स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे वह शरीरका कार्य प्रतीत नहीं होता। प्रकट है कि जिस इन्द्रियप्रत्यक्षसे मिट्टी आदिका ग्रहण होता है उसी इन्द्रियप्रत्यक्षसे उसके घटादिक विकाररूप कार्योंका भी ग्रहण होता है और इसलिए घटादिक मिट्टी आदिके कार्य माने जाते हैं। परन्तु यह बात शरीर और ज्ञानमें नहीं

[1] 'हमारे पितामह प्रपितामह आदि थे, क्योंकि हमारा सद्भाव अन्यथा नहीं हो सकता था।

इस तरह परलोकी नित्य आत्माके सिद्ध होजानेपर स्वर्ग-नरकादिरूप परलोक भी सिद्ध हो जाता है। अतः चार्वाकोंको उनका निषेध करना तर्कसंगत नहीं है। इसलिये जो जीव सुख चाहते हैं उन्हें उसके उपायभूत धर्मको अवश्य करना चाहिए, क्योंकि बिना कारणके कार्य उत्पन्न नहीं होता' यह सर्वमान्य सिद्धान्त है और जिसे ग्रन्थके आरम्भमें ही हम ऊपर कह आये हैं।

२ फलभोक्तृत्वाभावसिद्धि

बौद्ध आत्माको भूतसंघातसे भिन्न तत्त्व मान कर भी उसे सर्वथा क्षणिक—अनित्य स्वीकार करते हैं, परन्तु वह युक्त नहीं है; क्योंकि आत्माको सर्वथा क्षणिक माननेमें न धर्म बनता है और न धर्मफल बनता है। स्पष्ट है कि उनके क्षणिकत्व सिद्धान्तानुसार जो आत्मा धर्म करनेवाला है वह उसी समय नष्ट हो जाता है और ऐसी हालतमें वह स्वर्गादि धर्मफलका भोक्ता नहीं हो सकता। और यह नियम है कि 'कर्ता ही फलभोक्ता होता है, अन्य नहीं।'

बौद्ध—यद्यपि आत्मा जो चित्तक्षणोंके समुदायरूप है क्षणिक है तथापि उसके कार्यकारणरूप सन्तानके होनेसे उसके धर्म और धर्मफल दोनों बन जाते हैं और इसलिये 'कर्ता ही फलभोक्ता होता है' यह नियम उपपन्न हो जाता है ?

जैन—अच्छा तो यह बतलाइये कि कर्ताको फल प्राप्त होता है या नहीं ? यदि नहीं तो फलका अभाव आपने भी स्वीकार कर लिया। यदि कहें कि प्राप्त होता है तो कर्ताके नित्यपनेका प्रसंग आता है क्योंकि उसे फल प्राप्त करने तक ठहरना पड़ेगा। प्रसिद्ध है कि जो धर्म करता है उसे ही उसका फल

मिलता है अन्यको नहीं। किन्तु जब आप आत्माको निरन्वय क्षणिक मानते हैं तो उसके नाश होजानेपर फल दूसरा चित्त ही भोगेगा जो कर्ता नहीं है और तब 'कर्ताको ही फल प्राप्त होता है' यह कैसे सम्भव है ?

बौद्ध—जैसे पिताके कमाईका फल पुत्रको मिलता है और यह कहा जाता है कि पिताको फल मिला उसी तरह कर्ता आत्मा को भी फल प्राप्त हो जाता है ।

जैन—आपका यह केवल कहना मात्र है—इससे प्रयोजन कुछ भी सिद्ध नहीं होता। अन्यथा पुत्रके भोजन कर लेनेसे पिताके भी भोजन कर लेनेका प्रसंग आवेगा।

बौद्ध—व्यवहार अथवा संवृत्तिसे कर्ता फलभोक्ता बन जाता है अतः उक्त दोष नहीं है ।

जैन—हमारा प्रश्न है कि व्यवहार अथवा संवृत्तिसे आप का क्या अर्थ विवक्षित है ? अकर्ताको फल प्राप्त होता है, यह अर्थ विवक्षित है अथवा कर्ताको फल प्राप्त नहीं होता, यह अर्थ इष्ट है या कर्ताको कथंचित् फल प्राप्त होता है, यह अर्थ अभिमत है ? प्रथमके दो पक्षों में वही दूषण आते हैं जो ऊपर कह आ चुके हैं और इस लिये वे दोनों पक्ष तो निर्दोष नहीं हैं। तीसरा पक्ष भी बौद्धोंके लिये इष्ट नहीं हो सकता क्योंकि उसमें उनके क्षणिक सिद्धान्तकी हानि होती है और स्याद्वादमतका प्रसंग आता है।

दूसरे यदि संवृतिसे कर्ता फलभोक्ता हो तो संसार अवस्थामें जिस चित्तने कर्म किया था उसे मुक्त अवस्थामें भी संवृतिसे उसका फलभोक्ता मानना पड़ेगा। यदि कहा जाय कि जिस संसारी चित्तने कर्म किया था उस संसारी चित्तको ही

फल मिलता है मुक्तचित्तको नहीं, तो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि धर्मकर्ता संसारी चित्तको भी उसका फल नहीं मिल सकता। कारण, वह उसी समय नष्ट हो जाता है और फल भोगनेवाला संसारी चित्त दूसरा ही होता है फिर भी यदि आप उसे फलभोक्ता मानते हैं तो मुक्त चित्तको भी उस का फल भोक्ता कहिये, क्योंकि मुक्त और संसारी दोनों ही चित्त फलसे सर्वथा भिन्न तथा नाशकी अपेक्षासे परस्परमें कोई विशेषता नहीं रखते। यदि उनमें कोई विशेषता हो तो उसे बतलाना चाहिए।

बौद्ध—पूर्व और उत्तरवर्ती संसारी चित्तक्षणोंमें उपादानो पादेयरूप विशेषता है जो संसारी और मुक्त चित्तो में नहीं है और इसलिए उक्त दोष नहीं है?

जैन—चित्तक्षण जब सर्वथा भिन्न और प्रतिसमय नाश शील हैं तो उनमें उपादानोपादेयभाव बन ही नहीं सकता है। तथा निरन्वय होनेसे उनमें एक सन्तति भी असम्भव है। क्यों कि हम आपसे पूछते हैं कि वह सन्तति क्या है? सादृश्यरूप है या देश-काल सम्बन्धी अन्तरका न होना (नैरन्तर्य) रूप है अथवा एक कार्यको करना रूप है? पहला पक्ष तो ठीक नहीं है। कारण, निरंशवादमें सादृश्य सम्भव नहीं है—सभी क्षण परस्पर विलक्षण और भिन्न भिन्न माने गये हैं। अन्यथा पिता और पुत्रमें भी ज्ञानरूपसे सादृश्य होनेसे एक सन्ततिके माननेका प्रसङ्ग आयेगा। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि बौद्धोंके यहां देश और काल कल्पित माने गये हैं और तब उनकी अपे क्षामें होनेवाला नैरन्तर्य भी कल्पित कहा जायगा, किन्तु कल्पितसे कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है अन्यथा कल्पित अग्निसे दाह और मिथ्या सर्पदंशसे मरणरूप कार्य भी हो

ज्ञान चाहिए किन्तु वे नहीं होते। एक आत्माके अभावमें कार्यरूप सन्तति भी नहीं बनती, क्योंकि क्षणिकवादमें उस प्रकारका ज्ञान ही सम्भव नहीं है। यदि कहा जाय कि एकत्ववासनासे वैसा ज्ञान हो सकता है अर्थात् जहाँ 'सोऽहम्'—'वही मैं हूँ' इस प्रकारका ज्ञान होता है वहीं उपादानोपादेयरूप सन्तति मानी गई है और उक्त ज्ञान एकत्ववासनासे होता है, तो यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि उसमें अन्योन्याश्रय नामका दोष आता है। वह इस प्रकार है—जब एकत्वज्ञान सिद्ध हो तब एकत्व वासना बने और जब एकत्ववासना बन जाय तब एकत्वज्ञान सिद्ध हो। और इस तरह दोनों ही असिद्ध रहते हैं। केवल कार्य-कारणरूपतासे सन्तति मानना भी उचित नहीं है अन्यथा बुद्ध और संसारियोंमें भी एक सन्तानका प्रसङ्ग आयेगा क्योंकि उन में कार्यकारणभाव है—वे बुद्धके द्वारा जाने जाते हैं और यह नियम है कि जो कारण नहीं होता वह ज्ञानका विषय भी नहीं होता—अर्थात् जाना नहीं जाता। तात्पर्य यह कि कारण ही ज्ञानका विषय होता है और संसारी बुद्धके विषय होनेसे वे कारण हैं तथा बुद्धचित्त उनका कार्य है अतः उनमें भी एक सन्ततिका प्रसंग आता है।

अब आत्माको सर्वथा क्षणिक और निरन्वय माननेपर बन्ध तथा मोक्ष होना ही नहीं बनता किन्तु उसे कथंचित् क्षणिक और अक्षणिक स्वीकार करनेसे वे दोनों बन जाते हैं। जो मैं बाल्यावस्थामें था वही इस अवस्थाको छोड़कर अब मैं युवा हूँ। ऐसा प्रत्यभिज्ञान नामका निर्बाध ज्ञान होता है और जिसमें आत्मा कथंचित् नित्य तथा अनित्य प्रतीत होता है और प्रतीतिके अनुसार वस्तुकी व्यवस्था है।

३ युगपदनेकान्तसिद्धि

एक साथ तथा क्रमसे वस्तु अनेकधर्मात्मक है, क्योंकि सन्तान आदिका व्यवहार उसके बिना नहीं हो सकता। प्रकट है कि बौद्ध जिस एक चित्तको कार्यकारणरूप मानते हैं और उसमें एक सन्तति का व्यवहार करते हैं वह यदि पूर्वोत्तर पर्यायोंकी अपेक्षा नानात्मक न हो तो न तो एक चित्त कार्य एवं कारण दोनोंरूप हो सकता है और न उसमें सन्ततिका व्यवहार ही बन सकता है।

बौद्ध—बात यह है कि एक चित्तमें जो कार्यकारणादिका भेद माना गया है वह व्यावृत्तिद्वारा जिसे अपोह अथवा अन्यापोह कहते हैं, कल्पित है वास्तविक नहीं?

जैन उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि व्यावृत्ति अवस्तुरूप होनेसे उसके द्वारा भेदकल्पना सम्भव नहीं है। दूसरी बात यह है कि प्रत्यक्षादिसे उक्त व्यावृत्ति सिद्ध भी नहीं होती, क्योंकि वह अवस्तु है और प्रत्यक्षादिकी वस्तुमें ही प्रवृत्ति होती है।

बौद्ध— ठीक है कि प्रत्यक्षसे व्यावृत्ति सिद्ध नहीं होती पर वह अनुमानसे अवश्य सिद्ध होती है और इसलिये वस्तुमें व्यावृत्ति कल्पित ही धर्मभेद है?

जैन—नहीं अनुमानसे व्यावृत्तिकी सिद्धि माननेमें अन्योन्याश्रय नामका दोष आता है। वह इस तरहसे है—व्यावृत्ति जब सिद्ध हो तो उससे अनुमान सम्पादक साध्यादि धर्मभेद सिद्ध हो और जब साध्यादि धर्मभेद सिद्ध हो तब व्यावृत्ति सिद्ध हो। अतः अनुमानसे भी व्यावृत्तिकी सिद्धि सम्भव नहीं है। ऐसी स्थितिमें उसके द्वारा धर्मभेदको कल्पित बतलाना असंगत है।

बौद्ध—विकल्प व्यावृत्तिग्राहक है, अतः उक्त दोष नहीं है?

४ क्रमानेकान्तसिद्धि

पूर्वोत्तर चित्तक्षणोंमें यदि एक वास्तविक अनुस्यूतपना न हो तो उनमें एक सन्तान स्वीकार नहीं की जा सकती है और सन्तान के अभावमें फलाभाव निश्चित है क्योंकि करनेवाले चित्तक्षणसे फलभोगनेवाला चित्तक्षण भिन्न है और इसलिये एकत्वके बिना 'कर्त्ताको ही फलप्राप्ति' नहीं हो सकती।

यदि कहा जाय कि पूर्व क्षण उत्तर क्षणका कारण है, अतः उसके फलप्राप्ति हो जायगी तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि कारणकार्यभाव तो पिता पुत्रमें भी है और इसलिये पुत्रकी क्रियाका फल पिताको भी प्राप्त होनेका प्रसंग आयेगा।

बौद्ध—पिता-पुत्रमें उपादानोपादेयभाव न होनेसे पुत्रकी क्रियाका फल पिताको प्राप्त नहीं हो सकता। किन्तु पूर्वोत्तर क्षणोंमें तो उपादानोपादेयभाव मौजूद है, अतः उसके फलका अभाव नहीं हो सकता?

जैन—यह उपादानोपादेयभाव सर्वथा भिन्न पूर्वोत्तर क्षणोंकी तरह पिता-पुत्रमें भी क्यों नहीं है, क्योंकि भिन्नता उभयत्र एक सी है। यदि उसमें कथंचित् अभेद मानें तो जैनपनेका प्रसंग आयेगा कारण जैनोंने ही कथंचित् अभेद उनमें स्वीकार किया है, बौद्धोंने नहीं।

बौद्ध—पिता-पुत्रमें सादृश्य न होनेसे उनमें उपादानोपादेयभाव नहीं है, किन्तु पूर्वोत्तर क्षणोंमें तो सादृश्य पाया जानेसे उनमें उपादानोपादेयभाव है। अतः उक्त दोष नहीं है?

जैन—यह कथन भी संगत नहीं है, क्योंकि उक्त क्षणोंमें सादृश्य मानने पर उनमें उपादानोपादेयभाव नहीं बन सकता। सादृश्यमें तो वह नष्ट ही हो जाता है। वास्तवमें सदृशता उनमें

होती है जो भिन्न होते हैं और उपादानोपादेयभाव अभिन्न (एक) में होता है।

शंका—बात यह है कि पिता पुत्रमें देश-कालकी अपेक्षासे होनेवाला नैरन्तर्य नहीं है और उसके न होनेसे उनमें उपादानोपादेयभाव नहीं है। किन्तु पूर्वोत्तर क्षणोंमें नैरन्तर्य होनेसे उपादानोपादेयभाव है?

समा.—यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि बौद्धोंके यहाँ स्वलक्षणरूप क्षणोंमें भिन्न देशप्रसारिता नहीं माना गया है और तब उनकी अपेक्षासे कल्पित नैरन्तर्य भी उनके यहाँ नहीं बन सकता है। अतः उससे उक्त क्षणोंमें उपादानोपादेयभावकी कल्पना और पिता-पुत्रमें उसका निषेध करना सर्वथा असंगत है।

अतः कार्यकारणरूपसे सर्वथा भिन्न भी क्षणोंमें कार्यकारणभावकी सिद्धिके लिये उनमें एक अन्वयी द्रव्यरूप सन्तान अवश्य स्वीकार करना चाहिए।

एक बात और है। जब आप क्षणोंमें निर्बाध प्रत्ययसे भेद स्वीकार करते हैं तो उनमें निर्बाध प्रत्ययसे ही अभेद (एकत्व एकपना) भी मानना चाहिए क्योंकि ये दोनों ही वस्तुमें सुप्रतीत होते हैं।

यदि कहें कि भेद और अभेद दोनोंमें परस्पर विरोध होनेसे ये दोनों वस्तुमें नहीं माने जा सकते हैं तो यह कहना भी सम्यक् नहीं है क्योंकि अनुपलभ्यमानोंमें विरोध होता है उपलभ्यमानोंमें नहीं। और भेद अभेद दोनों वस्तुमें उपलब्ध होते हैं। अतः भेद और अभेद दोनों रूप वस्तु मानना चाहिए।

यहाँ एक बात और विचारणीय है। वह यह कि आप (बौद्धों) के यहाँ सन्तान सत्य माना गया है या असत्य? दोनों

ही पक्षमें आकाश तथा खरविषाणकी तरह कारणापेक्षा सम्भव नहीं है।

यदि कहें कि पहले असत् और पीछे सत् कार्य हमारे यहाँ माना गया है तो आपका अपसिद्धान्त सिद्धान्त नहीं रहता क्योंकि वस्तुके पहले और पीछे विद्यमान रहने पर ही ये दोनों (सत्त्व और असत्त्व) वस्तुके बनते हैं। किन्तु स्याद्वादी जैनोंके यहाँ यह दोष नहीं है, कारण वे कार्यको व्यक्ति (विशेष) रूपसे असत् और सामान्यरूपसे सत् दोनों रूप स्वीकार करते हैं और इस स्वीकारसे उनके किसी भी सिद्धान्तका घात नहीं होता। अतः इससे भी वस्तु नानाधर्मात्मक सिद्ध है।

बौद्धोंने जो चित्रज्ञान स्वीकार किया है उसे उन्होंने नानात्मक मानते हुए कार्यकारणतादि अनेकधर्मात्मक प्रतिपादन किया है। इसके सिवाय, उन्होंने रूपादिको भी नानाशक्त्यात्मक बतलाया है। एक रूपक्षण अपने उत्तरवर्ती रूपक्षणमें उपादान तथा रसादिक्षणमें सहकारी होता है और इस तरह एक ही रूपादि क्षणमें उपादानत्व और सहकारित्व दोनों शक्तियाँ उनके द्वारा मानी गई हैं।

यदि रूपादि क्षण सर्वथा भिन्न हों, उनमें कथंचित् भी अभेद—एकपना न हो तो संतान सादृश्य साध्य, साधन और उनकी क्रिया ये एक भी नहीं बन सकते हैं। न ही स्मरण, प्रत्यभिज्ञा आदि बन सकते हैं। अतः ज्ञानोंकी अपेक्षा अनेकान्त और अन्वयी रूपकी अपेक्षा एकान्त दोनों वस्तुमें सिद्ध हैं। एक ही हेतु अपने साध्यकी अपेक्षा गमक और इतरकी अपेक्षा अगमक दोनों रूप देखा जाता है। वास्तवमें यदि वस्तु एकान्तात्मक न हो तो स्मरणादि असम्भव हैं। अतः स्मरणादि अन्यथानुपपत्तिके बलसे वस्तु अनेकान्तात्मक प्रसिद्ध होती है

अनिश्चित है। अतः उससे समवायकी सिद्धि बतलाना असंगत है।

यौग—समवायकी सिद्धि निम्न अनुमानसे होती है—'इन शाखाओंमें यह वृक्ष है' यह बुद्धि सम्बन्धपूर्वक है क्योंकि वह 'इहेदं' बुद्धि है। जैसे इस कुण्डमें यह दही है यह बुद्धि। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार इस कुण्डमें यह दही है यह ज्ञान संयोग सम्बन्धके निमित्तसे होता है इसी प्रकार इन शाखाओंमें यह वृक्ष है' यह ज्ञान भी समवाय सम्बन्धपूर्वक होता है। अतः समवाय अनुमानसे सिद्ध है?

जैन—नहीं। उक्त हेतु 'इस वनमें यह आम्रादि है' इस ज्ञानके साथ व्यभिचारी है क्योंकि यह ज्ञान 'इहेदं' रूप तो है किन्तु किसी अन्य सम्बन्ध-पूर्वक नहीं होता और न यौगोंने उनमें समवाय या अन्य सम्बन्ध स्वीकार किया भी है। केवल उसे उन्होंने अन्तरालाभावपूर्वक प्रतिपादन किया है और यह प्रकट है कि अन्तरालाभाव सम्बन्ध नहीं है। अतः इस अन्तरालाभाव पूर्वक होनेवाले 'इहेदं' रूप ज्ञानके साथ उक्त हेतु व्यभिचारी होनेसे उसके द्वारा समवायकी सिद्धि नहीं हो सकती है।

ऐसी हालतमें बुद्ध्यादि एवं कर्तृत्वादिसे आत्मा भिन्न ही रहेगा और तब वह आत्मा धर्मकर्ता अथवा फल भोक्ता कैसे बन सकता है? अतः सांख्यैकान्तकी तरह नित्यैकान्तका मानना भी निष्फल है।

अपि च, आप यह बतलाइये कि समवाय क्या काम करता है? आत्मा और बुद्ध्यादिमें अभेद करता है अथवा उनके भेदको मिटाता है? अन्य विकल्प सम्भव नहीं है? प्रथम पक्षमें बुद्ध्यादिकी तरह आत्मा अनित्य हो जायगा अथवा आत्माकी तरह बुद्ध्यादि नित्य हो जायेंगे क्योंकि दोनों अभिन्न हैं। दूसरे पक्षमें आत्मा और बुद्ध्यादिके भेद मिटनेपर घट-पट

किसी तरह वे दोनों स्वतंत्र हो जायेंगे। अतः समवायसे पहले उनमें न तो भेद ही माना जा सकता है और न अभेद ही क्योंकि उक्त दूषण आते हैं। तथा भेदाभेद उनमें आपने स्वीकार नहीं किया तब समवायको माननेसे क्या फल है?

योग—भेदको हमने अयोग्याभावरूप माना है अतः आत्मा और बुद्ध्यादिमें स्वतंत्रपनेका प्रसंग नहीं आता?

जैन—यह कहना भी आपका ठीक नहीं है क्योंकि अन्योन्याभावमें भी घट-पटादिकी तरह स्वतन्त्रता रहेगी—वह मिट नहीं सकती। यदि वह मिट भी जाय तो अभेद होनेसे उक्त निस्पता अनि पवाक्ष दोष तदवस्थ है।

योग—पृथक्त्व गुणसे उनमें भेद बन जाता है अतः अभेद होनेका प्रसंग नहीं आता और न फिर उसमें उक्त दोष रहता है?

जैन—नहीं, पृथक्त्व गुणसे भेद मानने पर पृथक्त्व आत्मा और बुद्ध्यादिमें घटादिकी तरह भेद प्रसक्त होगा ही।

एक बात और है समवायसे आत्मामें बुद्ध्यादिका सम्बन्ध माननेपर मुक्तजीवमें भी उनका सम्बन्ध मानना पड़ेगा क्योंकि वह व्यापक और एक है।

योग—बुद्ध्यादि अमुक्त-प्रभव धर्म हैं अतः मुक्तोंमें उनके सम्बन्धका प्रसंग प्राप्त नहीं होसकता है?

जैन—नहीं, बुद्ध्यादि मुक्तप्रभव धर्म क्यों नहीं है, इसका क्या समाधान है? क्योंकि बुद्ध्यादिका जनक आत्मा है और वह मुक्त तथा अमुक्त दोनों अवस्थाओंमें समान है। अन्यथा जनकस्वभावको छोड़ने और अजनकस्वभावको ग्रहण करनेसे आत्माके नित्यपनेका अभाव आवेगा।

योग—बुद्ध्यादि अमुक्त समवेतधर्म हैं, इसलिये वे अमुक्तप्रभव हैं मुक्तप्रभव नहीं हैं।

जैन—नहीं, क्योंकि अन्योन्याश्रय दोष आता है। गुणादि सब अयुतसमवेत सिद्ध होजायें तब वे अयुत-आश्रय सिद्ध हों और उनके अयुताश्रय सिद्ध होनेपर वे अयुत-समवेत सिद्ध हों। अतः समवायसे आत्मा तथा गुणादिमें अभेदादि माननेमें उक्त दूषण आते हैं। और इसी तरह वस्तुको सर्वथा नित्य माननेपर धर्मकर्ताके पक्षका अभाव सुनिश्चित है।

६ सर्वज्ञाभावसिद्धि

नित्यैकान्तका प्रणेता—ईश्वरादि भी सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि वह समीचीन अर्थका कथन करनेवाला नहीं है। दूसरी बात यह है कि वह सरागी भी है। अतः हमारी तरह दूसरोंका भी उसकी उपासना करना योग्य नहीं है।

सोचनेकी बात है कि जिसने अविचारपूर्वक स्त्री आदिका अपहरण करनेवाला तथा उसका नाश करनेवाला दोनों बनाये वह अपनी तथा दूसरोंकी अन्योंसे कैसे रक्षा कर सकता है?

साथ ही जो उपद्रव एवं झगड़े कराता है वह विचारक तथा सर्वज्ञ नहीं हो सकता। यह कहना युक्त नहीं कि वह उपद्रव रहित है, क्योंकि ईश्वरके कोपादि देखा जाता है।

अतः यदि ईश्वरको आप इन सब उपद्रवोंसे दूर वीतराग एवं सर्वज्ञ मानें तो हमीको उपास्य भी स्वीकार करना चाहिए, अन्य दूसरेको नहीं। रत्नका पारखी कांचका उपासक नहीं होता।

यह वीतराग-सर्वज्ञ ईश्वर भी निरुपाय नहीं है। अन्यथा वह न बद्ध बन सकता है और न सशरीरी। उसे बद्ध माननेपर वह सदा बद्ध रहेगा—अबद्ध कभी नहीं बन सकेगा।

यदि कहा जाय कि वह बद्ध और अबद्ध दोनों है, क्योंकि वह परिणामी है तो यह कहना भी ठीक नहीं है। कारण, इस

तरह वह नित्यानित्यात्मक सिद्ध होनेसे स्याद्वादकी ही सिद्धि करेगा—कूटस्थ नित्यकी नहीं।

अपि च, उस कूटस्थ नित्य माननेपर उसके वक्तापन बनता भी नहीं है। क्योंकि उसका सिद्ध करनेवाला प्रत्यक्षादि कोई भी प्रमाण नहीं है। आगमको प्रमाण माननेपर अन्योन्याश्रय दोष होता है। स्पष्ट है कि जब वह सर्वज्ञ सिद्ध होजाय तो उसका उपदेशरूप आगम प्रमाण सिद्ध हो और जब आगम प्रमाण सिद्ध हो तब वह सर्वज्ञ सिद्ध हो।

इसीतरह शरीर भी उसके नहीं बनता है।

यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि वेदरूप आगम प्रमाण नहीं है क्योंकि उसमें परस्पर-विरोधी अर्थोंका कथन पाया जाता है। सभी वस्तुओंको उसमें सर्वथा सद्रूप अथवा सर्वथा असद्रूप बतलाया गया है। इसीप्रकार प्राभाकर वेदवाक्यका अर्थ नियोग भाट्ट भावना और वेदान्ती विधि करते हैं और ये तीनों परस्पर सर्वथा भिन्न हैं। ऐसी हालतमें यह निश्चय नहीं होसकता कि अमुक अर्थ प्रमाण है और अमुक नहीं।

अतः वेद भी वीतराग एवं अशरीरी सर्वज्ञका साधक नहीं है और इसलिये नित्यैकान्तमें सर्वज्ञका भी अभाव सुनिश्चित है।

७. जगत्कर्तृत्वाभावसिद्धि

किन्तु हाँ, सशरीर वीतराग एवं हितोपदेशी सर्वज्ञ होसकता है क्योंकि उसका साधक अनुमान विद्यमान है। वह अनुमान यह है—

'कोई पुरुष समस्त पदार्थोंका साक्षात्कर्ता है क्योंकि ज्योतिष शास्त्रादिका उपदेश अन्यथा नहीं होसकता।' इस अनुमानसे सर्वज्ञकी सिद्धि होती है।

पर ध्यान रहे कि यह अनुमान अनुपायसिद्ध सर्वज्ञका साधक नहीं है क्योंकि वह यत्न नहीं है। मायामयुत बुद्धादि यद्यपि वचन हैं किन्तु उनके वचन सदोष होनेसे वे भी सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होते।

दूसरे, बौद्धोंने बुद्धको 'विधूतकल्पनाजाल' अर्थात् कल्पनाओंसे रहित कहकर उन्हें अवक्तव्य भी प्रकट किया है और अवक्तव्य होनेसे वे सर्वज्ञ नहीं हैं।

तथा यौगों (नैयायिकों और वैशेषिकों) द्वारा अभिमत महेश्वर भी स्व-पर-ग्राही वैस्यादिका सृष्टा होनेसे सर्वज्ञ नहीं है।

यौग-महेश्वर जगतका कर्ता है अतः वह सर्वज्ञ है क्योंकि बिना सर्वज्ञताके इतने इस सुव्यवस्थित एवं सुन्दर जगतकी सृष्टि नहीं हो सकती है?

जैन—नहीं, क्योंकि महेश्वरको जगत्कर्ता सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है।

यौग-सिद्ध प्रमाण है—'पर्वत आदि बुद्धिमानद्वारा बनाये गये हैं, क्योंकि वे कार्य हैं तथा जड़ उपादान जन्य हैं। जैसे घटादिक। जो बुद्धिमान उनका कर्ता है वह महेश्वर है। वह यदि असर्वज्ञ हो तो पर्वतादि उन कार्योंके समस्त कारकोंका उसे परिज्ञान न होनेसे वे असुन्दर, अव्यवस्थित और बेडौल भी उत्पन्न हो जायेंगे। अतः पर्वतादिका बनानेवाला सर्वज्ञ है?

जैन—यह कहना भी सम्यक् नहीं है क्योंकि यदि वह सर्वज्ञ होता तो वह अपने तथा दूसरोंके घातक वैस्यादि दुष्ट जीवोंकी सृष्टि न करता। दूसरी बात यह है कि उसे आपने अशरीरी भी माना है पर बिना शरीरके वह जगत्का कर्ता नहीं हो सकता। यदि उसके शरीरकी कल्पना की जाय तो महेश्वरका संसारी होना, उस शरीरके लिए अन्य शरीरकी कल्पना करना आदि

अनेक दोष आते हैं। अतः महेश्वर जगतका कर्ता नहीं है और तब उसे उसके द्वारा सर्वज्ञ सिद्ध करना अयुक्त है।

८ अर्हत्सर्वज्ञसिद्धि

इस तरह न बुद्ध सर्वज्ञ सिद्ध होता है और न महेश्वर आदि। पर ज्योतिषशास्त्रादिका उपदेश सर्वज्ञके बिना सम्भव नहीं है, अतः अन्ययोगव्यवच्छेद द्वारा अर्हन्त भगवान ही सर्वज्ञ सिद्ध होते हैं।

मीमांसक—अर्हन्त वक्ता हैं पुरुष हैं और प्राणादिमान् हैं, अतः हम लोगोंकी तरह वे भी सर्वज्ञ नहीं हैं?

जैन—नहीं, क्योंकि वक्तापन आदिका सर्वज्ञपनेके साथ विरोध नहीं है। स्पष्ट है कि जो जितना अधिक ज्ञानवान् होगा वह उतना ही उत्कृष्ट वक्ता आदि होगा। आपने भी अपने मीमांसादर्शनकार जैमिनिको उत्कृष्ट ज्ञानके साथ ही उत्कृष्ट वक्ता आदि स्वीकार किया है।

मीमांसक—अर्हन्त वीतराग हैं, इसलिये उनके इच्छाके बिना वचनप्रवृत्ति नहीं हो सकती है?

जैन—यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि इच्छाके बिना भी सोते समय अथवा गोत्रस्खलन आदिमें वचनप्रवृत्ति देखी जाती है और इच्छा करनेपर भी मूर्ख शास्त्रवक्ता नहीं हो पाता। दूसरे, सर्वज्ञके निर्दोष इच्छा माननेमें भी कोई बाधा नहीं है और उस दशामें अर्हन्त भगवान् वक्ता सिद्ध हैं।

मीमांसक—अर्हन्तके वचन प्रमाण नहीं हैं क्योंकि वे पुरुषके वचन हैं, जैसे गलीके वचन?

जैन—यह कथन भी सम्यक् नहीं है क्योंकि दोषवान् वचनोंको ही अप्रमाण माना गया है, निर्दोष वचनोंको नहीं। अतः

अर्हन्तके वचन निर्दोष होनेसे प्रमाण हैं और इसलिये वे ही सर्वज्ञ सिद्ध हैं।

६ अर्थापत्तिप्रामाण्यसिद्धि

सर्वज्ञको सिद्ध करनेके लिये जो 'ज्योतिषशास्त्रादिका उपदेश सर्वज्ञके बिना सम्भव नहीं है' यह अर्थापत्ति प्रमाण दिया गया है उसे मीमांसकोंकी तरह जैन भी प्रमाण मानते हैं, अतः उस अप्रमाण होने अथवा उसके द्वारा सर्वज्ञ सिद्ध न होनेकी शंका निर्मूल हो जाती है। अथवा, अर्थापत्ति अनुमानरूप ही है। और अनुमान प्रमाण है।

यदि कहा जाय कि अनुमानमें तो दृष्टान्तकी अपेक्षा होती है और उसके अविनाभावका निर्णय दृष्टान्तमें ही होता है किन्तु अर्थापत्तिमें दृष्टान्तकी अपेक्षा नहीं होती और न उसके अविनाभावका निर्णय दृष्टान्तमें होता है अपितु पक्षमें ही होता है तो यह कहना ठीक नहीं क्योंकि दोनोंमें कोई भेद नहीं है—दोनों ही जगह अविनाभावका निश्चय पक्षमें ही किया जाता है। सब विदित है कि अद्वैतवादियोंके लिये प्रमाणोंका अस्तित्व सिद्ध करनेके लिये जो 'इष्टसाधन' रूप अनुमान प्रमाण दिया जाता है उसके अविनाभावका निश्चय पक्षमें ही होता है क्योंकि वहाँ दृष्टान्त का अभाव है। अतः जिस तरह वहाँ प्रमाणोंके अस्तित्वको सिद्ध करनेमें दृष्टान्तके बिना भी पक्षमें ही अविनाभावका निर्णय हो जाता है उसी तरह अन्य हेतुओंमें भी समझ लेना चाहिए। तथा इस अविनाभावका निश्चय विपक्षमें बाधक प्रमाणके प्रदर्शन एवं तर्कसे होता है। प्रत्यक्षादिसे उसका निश्चय असम्भव है और इसी लिये व्याप्ति एवं अविनाभावका ग्रहण करने रूपमें तर्कको पृथक् प्रमाण स्वीकार किया गया है। अतः अर्थापत्ति अप्रमाण नहीं है।

जैन—यह बात तो वर्णोंकी व्यंजक ध्वनियोंमें भी लागू हो सकती है। क्योंकि वे न तो वर्णरूप हैं और न स्वयं अपनी व्यंजक हैं। दूसरे, स्वाभाविक योग्यतारूप संकेतसे शब्दोंको हमारे यहाँ अर्थप्रतिपत्ति कराने वाला स्वीकार किया गया है और लोकमें सब जगह भाषावर्गणाएँ मानी गई हैं जो शब्द रूप बनकर सभी श्रोताओं द्वारा सुनी जाती हैं।

मीमांसक—'वेदका अध्ययन वेदके अध्ययनपूर्वक होता है, क्योंकि वह वेदका अध्ययन है, जैसे आजकलका वेदाध्ययन।' इस अनुमानसे वेद अपौरुषेय सिद्ध होता है?

जैन—नहीं, क्योंकि उक्त हेतु अप्रयोजक है—हम भी कह सकते हैं कि 'पिटकका अध्ययन पिटकके अध्ययनपूर्वक होता है क्योंकि वह पिटकका अध्ययन है, जैसे आजकलका पिटकाध्ययन।' इस अनुमानसे पिटक भी अपौरुषेय सिद्ध होता है।

मीमांसक—बात यह है कि पिटकके तो बौद्ध कर्त्ताका स्मरण करते हैं और इसलिये वह अपौरुषेय सिद्ध नहीं हो सकता। किन्तु वेदके कर्त्ताका स्मरण नहीं किया जाता अतः वह अपौरुषेय सिद्ध होता है?

जैन—यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि बौद्धोंके पिटक सम्बन्धी कर्त्त स्मरणको आप प्रमाण मानते हैं तो वे वेदमें भी अष्टकादिकको कर्त्ता स्मरण करते हैं अर्थात् वेदको भी वे सकर्तृक बतलाते हैं, अतः उसे भी प्रमाण स्वीकार करिये। अन्यथा दोनोंको अप्रमाण कहिए। अतः कर्त्ताके अस्मरणसे भी वेद अपौरुषेय सिद्ध नहीं होता और उस हालतमें वह पौरुषेय ही सिद्ध होता है।

११ परतः प्रामाण्यसिद्धि

मीमांसक—वेद स्वतः प्रमाण है क्योंकि सभी प्रमाणोंकी प्रमाणता हमारे यहाँ स्वतः ही मानी गई है अतः वह पौरुषेय नहीं है?

जैन—नहीं, क्योंकि अप्रमाणताकी तरह प्रमाणोंकी प्रमाणता भी स्वतः नहीं होती। गुणादि सामग्रीसे वह होती है। इन्द्रियोंके निर्दोष—निर्मल होनेसे प्रत्यक्षमें, त्रिरूपतासहित हेतुसे अनुमानमें और आप्तद्वारा कहा होनेसे आगममें प्रमाणता मानी गई है और निर्मलता आदि ही 'पर' हैं। अतः प्रमाणताकी उत्पत्ति परसे सिद्ध है और ज्ञप्ति भी अनभ्यास दशामें परसे सिद्ध है। हाँ, अभ्यास दशामें ज्ञप्ति स्वतः होती है। अतः परसे प्रमाणता सिद्ध हो जाने पर कोई भी प्रमाण स्वतः प्रमाण सिद्ध नहीं होता और इसलिए वेद पौरुषेय है तथा वह सर्वज्ञका बाधक नहीं है।

१२ अभावप्रमाणदूषणसिद्धि

अभाव प्रमाण भी सर्वज्ञका बाधक नहीं है, क्योंकि मान प्रमाणोंसे अतिरिक्त अभावप्रमाणकी प्रतीति नहीं होती। प्रकट है कि 'यहाँ घड़ा नहीं है' इत्यादि जगह जो अभावका ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष, स्मरण और अनुमान इन तीन ज्ञानोंसे भिन्न नहीं है। 'यहाँ' यह प्रत्यक्ष है, 'घड़ा' यह पूर्व दृष्ट घड़ेका स्मरण है और 'नहीं है' यह अनुपलब्धिजन्य अनुमान है। यहाँ और कोई प्राप्त है नहीं जिसे अभावप्रमाण जाना। दूसरे, वस्तु भावाभावात्मक है और भावको जाननेवाला भावप्रमाण ही उससे अभिन्न अभावको भी जान लेता है। अतः उसके जाननेके लिये अभाव-प्रमाणकी कल्पना निरर्थक है। अतएव वह भी सर्वज्ञका बाधक नहीं है।

१३ सर्वज्ञप्रामाण्यसिद्धि

सर्वज्ञका बाधक जब कोई प्रमाण सिद्ध न हो सका तो मीमांसक एक अन्तिम शंका और उठाता है। वह कहता है कि सर्वज्ञको सिद्ध करनेके लिए जो हेतु ऊपर दिया गया है उसके अविनाभावका ज्ञान असम्भव है क्योंकि उसका ग्रहण करने

वाला वह अप्रमाण है और उस हालतमें अन्य अनुमानसे सर्वज्ञकी सिद्धि नहीं हो सकती है? पर इसकी यह शंका भी निस्सार है क्योंकि व्याप्ति (अविनाभाव) को प्रत्यक्षादि कोई भी प्रमाण ग्रहण करने में समर्थ नहीं है। व्याप्ति तो समस्त देश और सर्वकालको लेकर होती है और प्रत्यक्षादि नियत देश और नियत कालमें ही प्रवृत्त होते हैं। अतः व्याप्तिको ग्रहण करने वाला तर्क प्रमाण है और उसके प्रमाण सिद्ध हो जानेपर उक्त सर्वज्ञ साधक हेतुके अविनाभावका ज्ञान उसके द्वारा पूर्णतः सम्भव है। अतः उक्त हेतुमें असिद्ध विरुद्ध, अनैकान्तिक आदि कोई भी दोष न होनेसे उससे सर्वज्ञकी सिद्धि भली भांति होती है।

१४ गुण गुणी अभेदसिद्धि

वैशेषिक गुण-गुणी आदिमें सर्वथा भेद स्वीकार करते हैं और समवाय सम्बन्धसे उनमें अभेदज्ञान मानते हैं। परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि न तो भिन्न रूपसे गुण-गुणी आदिकी प्रतीति होती है और न उनमें अभेदज्ञान कराने वाले समवायकी।

यदि कहा जाय कि 'इसमें यह है' इस प्रत्ययसे समवायकी सिद्धि होती है तो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि 'इस गुणादिमें संख्या है' यह प्रत्यय भी उक्त प्रकारका है किन्तु इस प्रत्ययसे गुणादि और संख्यामें वैशेषिकोंने समवाय नहीं माना। अतः उक्त प्रत्यय समवायका प्रसाधक नहीं है।

अगर कहें कि 'दो गन्ध, छह रस, दो सामान्य, बहुत विशेष, एक समवाय' इत्यादि जो गुणादिकोंमें संख्याकी प्रतीति होती है यह केवल औपचारिक है क्योंकि उपचारसे ही गुणादिकोंमें संख्या स्वीकार की गई है, तो उनमें 'पृथक्त्व' गुण भी उपचारसे स्वीकार करिए और उस दशामें अपृथक्त्व उनमें वास्तविक मानना पड़ेगा, जो वैशेषिकोंके लिए अनिष्ट है। अतः यदि पृथक्त्वका उनमें

वास्तविक मान तो संस्थाका भी गुणादिमें वास्तविक ही मानें। और तब उनमें एक तादात्म्य सम्बन्ध ही सिद्ध होता है—समवाय नहीं। अतएव गुणादिकको गुणी आदिसे कथंचित् अभिन्न स्वीकार करना चाहिए।

सदसद्रूपत्वसिद्धि

सदाद्वैतवादियों द्वारा कल्पित सत् और अविद्या न तो स्वतः प्रतीत होते हैं अन्यथा विवाद ही न होता और न प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणोंसे क्योंकि द्वैतकी सिद्धिका प्रसंग आता है। दूसरे सत्को मिथ्या और असत्का सम्यक् बतलाना युक्तिसंगत नहीं है। कारण सत् और असत् दोनों रूप ही वस्तु प्रमाणसे प्रतीत होती है। अतः सद्वाद मान्य नहीं है।

अन्तिम उपलम्भ सविरहत प्रकरण

शंका—भेद और अभेद दोनों परस्पर विरुद्ध होनेसे वे दोनों एक जगह नहीं बन सकते हैं अतः उनका प्रतिपादक स्याद्वाद भी ग्राह्य नहीं है?

समाधान—नहीं क्योंकि भिन्न भिन्न अपेक्षाओंसे वे दोनों एक जगह प्रतिपादित हैं—पर्यायकी अपेक्षा भेद और द्रव्यकी अपेक्षा अभेद बतलाया गया है और इस तरह उनमें कोई विरोध नहीं है। एक ही देवदत्तको जैसे बौद्ध पूर्व क्षणकी अपेक्षा कारण और उत्तर क्षणकी अपेक्षा कार्य दोनों स्वीकार करते हैं और उनमें व कोई विरोध नहीं मानते। उसी तरह प्रकृतमें भी समझना चाहिए। अन्यापोहकृत भेद मानने में सांकर्यादि दोष आते हैं। अतः स्याद्वाद वस्तुका सम्यक् व्यवस्थापक होनेसे सबके द्वारा उपादेय एवं आदरणीय है।

— —

विषय-सूची

विषय कारिका

नैतत्कायस्वभावः स्यादक्रम-पर्याय-दर्शनात् ।
न हि धान्यादिबीजानामङ्कुरादरपि सम्भवः ॥१९॥
भिन्न-पर्याय-धर्मो हि स्वभावस्य न युज्यते ।
तद्रूपं हि स्वभावित्वं तत्स्यान्तरमे[व तत्] ॥२० ॥
[पि]ता(न्तो)व्यक्त-गुणादिभ्यो जाता द्रव्यान्तर सुता ।
न स्वभावसुताऽन्या स्यादक्रम-पर्यायिताऽपि च ॥२१॥
ततस्तस्यान्तरत्वे चाकायस्याऽपि च देहिनः ।
मूर्तमित्यताऽपि स्यात्तस्य तद्गुणसंस्थितेः ॥२२॥
एवं स्यात्परलोकोऽपि नास्तिका मास्तु नश्यताम् ।
बाधानादित्व(धाऽनामात्र)[ता न हि] विपरीतविधिर्हि सा ॥२३॥
मस्यथाऽऽत्मनि धर्मे च मोक्षोपाये मुमुक्षुभिः ।
यत्न एव यतः कार्यो न हि कार्यमकारणे ॥२४॥

इति श्रीमद्वादीभसिंहसूरि विरचितायां स्याद्वादसिद्धौ
चार्वाकं प्रति जीवसिद्धिः ॥१॥

[२ फलभोक्तृत्वाभाव सिद्धिः]

क्षणिकैकान्तपक्षे तु धर्मो [न स्यात्फलमस्य]ताम् ।
धर्मकर्तुः क्षणध्वंसान् हि स्वर्गादि-भागवत् ॥१॥
नाय कारण-सन्तानात्तस्यैव फलं यदि ।
अस्तु वा तत्त्वं कर्म तत्फलं स्यात्कि नु मैव वा ॥२॥
नैव सन्तानसामान्यं स्याद्भावैरपि सम्भवः ।
सत्यं चानित्यता नु यावत्सत्तमवस्थिते ॥३॥

(शेषांश पृ २१ पर देखिए)

समन्तभद्राय नमः

श्रीमद्वादीभसिंहसूरि-विरचिता

स्याद्वाद-सिद्धिः

[१ जीव सिद्धिः]

[नमः श्रीवर्द्धमा]नाय स्वामिने विश्व-वेदिने ।
नित्यानन्द-स्वभावाय भक्त-सारूप्य-दायिने ॥१॥

सर्वे[1] सौख्यार्थितायां च [2]तदुपाय-पराङ्मुखाः ।
तदुपायं ततो वक्ष्ये न हि कार्यमहेतुकम् ॥२॥

यद्यहेतुकमेवेदं कादाचित्कत्वमत्र किम् ?
सर्वेषामपि किं न स्यात्सौ[ख्यं वा दुःखमेव वा] ॥३॥

नैतत्स्वाभाविकाय स्यात्तद्वतामप्यतद्दशो ।
नापि कान्तादिसम्पत्तान् कान्ता हि क्वचिदन्तकः ॥४॥

पुरस्सम्पा[द्य]-सौख्येऽपि केनचित्परिपन्थिना ।
सम्मत कोऽपि पापारम्भकर्त्तैरपि रक्षितः ॥५॥

[6]धर्माऽधर्मौ ततो हेतू गदितौ सुख-दुःखयोः ।
चित्तु [कारणसत्त्वेन पुन]र्यानानुमीयते ॥६॥

---

१ सर्वजनाः । २ सौख्यस्यार्थितायामपि सौख्यार्थिता सत्यां सौख्यात्तिलाभे तदुपायपराङ्मुखाः सन्तीति भावः । ३ सौख्योपायरहिताः । ४ सौख्यत्वं वक्ष्ये । ५ सौख्यं स्यात् । ६ 'धर्माऽधर्मौ ततो हेतू गदितौ सुख-दुःखयोः सात्त्विकानुसारेण दृश्यमानमत्र दत्तम् ।

परोक्षैवाऽनुमेया चेत् स्वोक्ता सा मेऽस्तु (प्टता) ध्रुवं ।
व्यभिचारश्च तन्नेष्या नाऽन्यथा चाविरोधतः ॥७॥

निर्बाधं तत्प्रमाणं चेत् अनुमाऽप्यस्तु तादृशी ।
पितामहानुमानं हि निर्बाधत्वेन सम्मतम् ॥ ॥

धर्मादि-कार्य सिद्धेश्च तत्कर्ताऽऽत्माऽपि सिध्यति ।
[कार्यं हि] कर्तृ-सापेक्षं स्वधर्मादि सुखादिकम् ॥९॥

'तत्कर्ताऽऽत्माऽस्ति सौख्यादेरन्यथानुपपत्तितः ।'
इत्यर्थापत्तितः सिद्धेरस्त्यात्मा परलोक-भाक् ॥१ ॥

न हि सौख्यादिकार्यस्य धर्मादेरिह दर्शनम् ।
तत्तत्कर्ता भवेत्साक् च परस्पर्चेतस्य नित्यता ॥११॥

तस्मात्स्वर मता चेत् सु मद्धेतुरभावतः ।
पू[र्विस्मादिम्य इ]त्येवमनुमाऽप्यस्य साधनम् ॥१२॥

चिदस्तित्वं विवादो न चार्वाकस्यापि तेन च ।
मूर्त-संहति-कायस्य ज्ञानरूपस्य कल्पनात् ॥१३॥

नेदं कायस्य कार्यं स्यात्तात्म्येनाऽप्यतद्ग्रहात् ।
गृह्यते हि पदार्थैर्विकार्येऽपि मृदादिकम् ॥१४॥

स्वसंवेदनात्मात्मा हि नीच[मानत्वमे]कयोः ।
प्रतीति-भिन्न-मानाभ्यां नैव कारण कार्ययोः ॥१५॥

अनुमा न कायत्व तस्य ज्ञानात्मकाऽऽत्मनः ।
इत्यनुमा सिद्धेर्वैतानाभिसिद्धिप्रत्यम ॥१६॥

अविनाभावादान्यस्य व्यभिचाराद्यभावतः ।
कादाचित्कं न दृष्टं हि किञ्चित्र मतहेतुकम् ॥१७॥

ज्ञानं [कायस्वभावं] स्यात्तच्च तत्त्वान्तरं तव ।
मतिप्रार्थेत्यशं (शोऽ)स्यास्मि (सि)द्धिरित्यपि दुर्मतम् ॥१८॥

कश्चि[द्वासना-सद्भावे च] चित्तसन्तानसम्भवः ।
तत्सम्भवं कल्पनाशो वासनाया इति स्फुटम् ॥१८॥
वासनाया (नाशे) न तज्ज्ञानं सन्तानादिति चेन्न न ।
तज्ज्ञाने हि कथञ्चिद्वा सन्तानस्तत्र वस्तुचित् ॥१९॥
सन्तानस्य कथञ्चित् स्यात् नान्योन्याश्रयदूषणम् ।
इति चेद् दृष्टमिष्टं [हि नान्योन्याश्रय]दूषणम् ॥२०॥
धीमाद् यत्परस्य स्यात्प्रबन्धोऽनादिरित्यसत् ।
स्याद्भेदोऽत्र नास्तीति न एकान्तोऽन्यथाविनाम् ॥२१॥
कार्य-कारण-मात्रेण सन्तानस्य प्रकल्पनम् ।
सतकात्म्य धोरग स्यान्मुक्त-संसारिणोरपि ॥२२॥
कार्य कारणरूपत्वमस्त्येव हि तयोरपि ।
दृष्टिना पूर्वतेरित्याद्य कार्यं स हि कारणम् ॥२३॥
विपर्ययोऽकारणे नेति बौद्धानां ग्रामिणामिव ।
मात्रस्यात्रेगमत्र चेत्समत्र सदुत्तरम् ॥२४॥
यथैकाधःक्रमादीनां सन्तानत्वौ तथा न चेत् ।
तथा सन्तानतायां किं तत्कथाऽत्र न सम्भवेत् ॥२५॥
कार्य-कारण-रूपत्वेऽप्यसमो सन्ततिन चेत् ।
सन्तानमाव एव स्यादभिमितान्तर-ग्रामिव ॥२६॥
सन्तानस्य-निमित्तं हि कार्य कारण-मात्रकम् ।
तस्मिन्नपि न तस्य यत्तत्किमन्यत्र सम्भवेत् ॥२७॥
स्यादि सदृशयुक्तेऽपि नाम सदृशरूपणम् ।
तत्र स्यात्सन्तति अपि भेद-नास्तित्व-साम्यतः ॥२८॥
तस्या चतत्साम्यं स्याद्वेत्स्याकारिता-भिन्नता ।
न हि स्वस्य स्वताऽसाम्यं साम्यासाम्यं हि भेदिनो ॥२९॥

इत्यसारं, तथात्वेऽपि क्षो(क्ष) [णं] मावेश्य कारणम् ।
प्रतिपद्यानुमानेन न च पक्षमवस्थिति ॥ ४६ ॥

तद्रूपारम्भ [भेद स्यात्माकृतो] परमाणव ।
किञ्चान्यस्मुपादानं सहकार्येव वा भवेत् ॥ ४७ ॥

रूपाद्यन्यतमं च स्यात्तस्मादेव च सौगता ।
पूर्वापरत्वमात्रेण नियतेनात्र कल्प्यते ॥ ४८ ॥

अथ मरणरूपत्वं बीजाङ्कुरवदित्यसत् ।
नियतो नियमाभाव प्रागेव [प्रतिषेधित] ॥ ४९ ॥

बीजाङ्कुरादयमाकूर्य सोरोऽर्थे शत्य शासित ।
ततो मरणनमस्त सौगतत्वं च समर्थितम् ॥ ५० ॥

न च पूर्वापरीभावनियम मानमित्यपि ।
प्रत्यक्षसिद्ध यस्तु तमात्मर्थोक्रियाऽस्वभात् ॥ ५१ ॥

क(ग),रम्याबधिरित्यर्थं तदकान्तो निरा[कृत] ।
ज्ञानी स्यात्पक्षसिद्ध-हासित ॥ ५२ ॥

नित्यपक्षस्वभावादि निराभावाऽपि सम्भव ।
तत्र सन्तान-सादृश्य-साध्य-साधन-तत्क्रिया ॥ ५३ ॥

तासां च सम्यक् बाधा न खलु वक्तिकमानिष्ठम् ।
सम्यग्नानुपपत्त्या च स्यात्सार्वभावामिमता ॥ ५४ ॥

न हि [स्यात्स्थाऽभाव बौद्धान्तो] स्मरणादिकम् ।
तस्मन्तानविभेदे पूर्वपूर्वसमर्पिते ॥ ५५ ॥

एकस्यैव तत्तद्रू स्यात्स चाऽस्तु [हि] सम्भवी ।
न स्यात्ससन्तानभवेऽपि विस्मृतिरवत्स्मृति कथम् ॥ ५६ ॥

अन्तराले ततो पुन तद्वस्य स्यादभेदत ।
वासनातः स्मृतिरन्यस्मात्रनित्य(त्ये)न स्यात चापरा ॥ ५७ ॥

———— ——————————प्रतिक्रियापलोकने ।
स एवाऽयमिति ज्ञानारेकात्मा वास्तवो भवेत् ॥ ५८ ॥
न चलता समारोपस्तस्मानाना कथं भवेत् ।
क्षणिके क्षणिकज्ञानं प्रत्यभिज्ञात्मकं हि सः ॥ ५९ ॥
स एवाऽयमिर्णाऽन्ये सोऽपि नो चेद्भूया तप ।
मात्रो क्षणिक———— ————यदि ॥६०॥
कि तत्र नापि संसार प्रत्यभिज्ञा-निराकृतौ ।
न चास्या संवेद्य भ्रान्तिर्विषय-प्राप्ति-दर्शनात् ॥ ६१ ॥
क्वचित्तु तदाभासिरन्यत्रऽपि हि दृश्यते ।
तत स्यात्प्रत्यभिज्ञाऽपि समारोपस्य भावतः ॥ ६२ ॥
तस्मादपि प्रमाणां स्याद्वास्तवैकात्म-संस्थितिः ।
न[शाय-विषय वा]निरदृष्टान्तेऽपि सम्भवे(वा)त् ॥ ६३ ॥
अन्यथानुपपन्नत्वस्य सम्बन्ध-निश्चयः ।
नाप्यविनिश्चय कस्मात्तस्यापि विनिश्चयः ॥ ६४ ॥
इत्यमसाधनस्यैव स्वरूपं हीदमप्रमा ।
विपक्षे बाध-सामर्थ्यात्तथाप्यस्य विनिश्चयः ॥ ६५ ॥
तर्कोऽथ(करण)प्रमा, न स्यादविनाभाव-नि[श्चयः] ।
[तदप्यन्ये]न्यनवस्थाना चा(स्थानाभा)व्यवादेन तद्भवः ॥६६॥
व्याप्त्यैव तद्भवेऽप्यप्राप्तविरमामनु सर्ववित् ।
अन्यथानुपपन्नत्वाभावभूद्गमकमन्यथा ॥ ६७ ॥
धर्मोपपत्यनिर्णीतो यथा तु गमकं मतम् ।
इत्यमस्य(पशु)तामोऽत्र मिथुपिन दि कथसा ॥ ६८ ॥
तथाऽनुपपत्तरेवामौ तदुपपन्नता ।
[अन्यथानुपपत्तिर्हि] सा, च हेतौ तदात्मकं ॥ ६९ ॥

हेतु-प्रयोग-काले तु वह्निरिष्टस्य धर्मिणि ।
किन्न पक्षादिधर्मत्वेऽप्यन्तर्व्याप्तेरभावतः ॥ ८२ ॥

तत्पुत्रत्वादिहेतूनां गमकत्वं न दृश्यते ।
पक्षधर्मत्व-हीनोऽपि [गमकः कृत्तिका]दयः ॥ ८३ ॥

अन्तर्व्याप्तेरतः सैव गमकत्व-प्रसाधनी ।
मुहूर्तादधिकः शकम(टः) शकटा(टाद)यमानिति ॥ ८४ ॥

तद्वत्त्वे स्यादयत्कृष्णमासमगाम्मि च ? ।
क्रोशादधिकदेशोऽयमग्निमानिति कल्पनात् ॥ ८५ ॥

ततो गमकता हेतोरन्तर्व्याप्त्येन [चान्यथा] ।
पक्षधर्मत्वमात्सर्वो हेतुरथेति मन्यते ॥ ८६ ॥

तद्व्यस्याविनाभावाद्धेतुस्तत्रानिवीत्यसत् ।
पक्षधर्मत्व-वैकल्येऽप्यन्यथानुपपत्तिमान् ॥ ८७ ॥

हेतुरप, यथा सन्ति प्रमाणानीष्टसाधनात् ।
अप्रमाणामहीष्टाप्तिरनिष्टाप्तश्च सम्भवात् ॥ ८८ ॥

ततश्च[हि रसदेतो]र्दृष्टान्तेऽपि हेतुता ।
ततस्तद्व्यवहाराद्न्यथानुपपत्तितः ॥ ८९ ॥

क्षणानामेकताऽभावात्क्रमानेकान्त-सुस्थितिः ।

इति श्रीमद्वादीभसिंहसूरि-विरचितायां स्याद्वादसिद्धौ क्षणिकवादिनं प्रति क्रमाऽनेकान्त-सिद्धिः ॥ ४ ॥

[५ मोक्षसुखाभाव-सिद्धिः]

[नित्यज्ञानो न मोक्ष]योऽयं कर्तुर्भोक्तृत्वहानितः ।
कर्तृत्वं सत्यभोक्तृत्वादस्मिन् कर्तृत्व-हानितः ॥ १ ॥
कर्तृत्वमपहायैव भोक्तृत्वं स्यादनित्यता ।
कर्तृत्वादर्शनाभावात्मस्वे नात्मनो हि तत् ॥ २ ॥
कर्तृत्वादश्च बुद्ध्यादेरिव सम्बन्ध आत्मनः ।
समवायस्ततस्तस्य स्यादात्मी[यत्वं चेत्य]सत् ॥ ३ ॥
असिद्धः समवायस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणतः ।
न ज्ञात्वाप्यनुमानत्वं विवादस्यैव दर्शनात् ॥ ४ ॥
निरंशैकस्वरूपं हि प्रत्यक्षं न्यायवेदिनाम् ।
निरंशेऽपि विवादश्चेत् गुण्यादावपि किं न सः ॥ ५ ॥
विवादो यदि तत्राऽपि विभ्रमैकान्तवर्ति[प्रमाता] ।
[सम्बन्धा]न्नियतात्मत्वं न च ज्ञानस्य सम्भवम् ॥ ६ ॥
न चानिर्णीतसिद्धत्वं ज्ञानाद्वैतादिवद्भवेत् ।
नागमाच्चास्य सिद्धत्वं तस्याप्यात्मे विवादतः ॥ ७ ॥
इह शाखासु वृक्षाः स्युरिति सम्बन्धपूर्विका ।
बुद्धिरिहबुद्धित्वात्कुण्डे दधीति बुद्धिवत् ॥ ८ ॥
इत्य[सद्वन समादि-बुद्धि]ना व्यभिचारतः ।
यत्र यत्र इहेत्यादौ सम्बन्धोऽन्यो हि नेष्यते ॥ ९ ॥
समवायान्यसम्बन्धा न सन्ति वन-सेनयोः ।
गुण (ण)गुण्यादिवच्चात्र न समवायसिद्धिता ॥ १ ॥

१ समवायस्त । समवायस्त ।

संयोगाख्य(द्वयो) न सम्बन्धो द्रव्ययो स्वस्थयं मत ।
स हि द्रव्यं बलं वृ[त्ति एव द्रव्यं हि] तत्सत ॥ ११ ॥

इहेदंबुद्धिहेतोस्त्वस्तेन व्यभिचारत ।
सामान्यमन्यमाभिस्थं तदेतोय नियुज्यति ॥ १२ ॥

ततो युतयुग्भिसम्बन्धे समवायाभि(स नि)राकृते ।
युतधार्भिन एवाऽऽत्मा सर्वेषां सर्वसिद्धिपाम् ॥ १३ ॥

एवं सति तदाऽऽत्माऽयं यमवर्त्ता क[र्थ भवतु] ।
[इति दैकान्तत]तस्मात्मिस्यैकान्तोऽपि निष्फलम् ॥ १४ ॥

क्रियात्म-युतरमेदरव(दृष्ट)मेदान्त्मासमेव वा ।
समवायोऽपि कुर्वीत नाऽन्यद्गत्यन्तरात्ययात् ॥ १५ ॥

पूर्वपक्षेऽथनित्यत्वमात्मना बुद्धिवद्भवेत् ।
नित्यत्वं वाऽऽत्मवद्बुद्धेर्भेदस्याविरोधत ॥ १६ ॥

पक्षान्तरे ———————————मेन्न रात ।
भेदनाशे स्वतन्त्रत्वमात्म-बुद्धयोर्घटादिवत ॥ १७ ॥

भेद प्राक् च तयोर्नो चेत्नाभेदोऽप्युपलम्भणात् ।
भवाभेदस्तु नैव समवायेन किं फलम् ॥ १८ ॥

भेदोऽथमाय एव स्यादितरेतरमध्वतः ।
त[दयुतगतं स्वतन्त्रत्वं] न स्यादात्मन इत्यसत् ॥१९॥

तथाप्यभेदत मोक्षदापाद्गत्यन्तरात्ययात् ।
पृथक्त्वाख्यगुणाद्भेद भेद एव घटादिवत् ॥ २० ॥

स्यादपृथक्त्वगुणादभेदोऽभेदस्य समवायत ।
इति चासदृष्टापत्ति व्यभिचारविहिपाम् ॥ २१ ॥

इहेदं [हि युतभ्युत्पादमा]त्र तत्क्षमित्यसत् ।
चमत्रादिविधिनो चेत्समवाय्यादिमत्क्रुत ॥ ॥

गुणधायाधारता मुक्तेऽप्यात्मन्याप्तिस्वत: समा ।
ततो गुणधादिसम्बन्ध स्यात्तस्याऽप्यविरोधत: ॥ २३ ॥

अमुक्तमभवत्वं स्याद्विरोपोऽत्रेति चेदसत् ।
मुक्तमभवता किं न बु[द्‌ध्यादेरविरोध]त: ॥ २४ ॥

बुद्‌ध्यादा(दे:) कारकत्वं हि मुक्त्यऽमुक्तात्मनो समम् ।
अन्यथा प्रागकर्तृत्वकर्तृता (ता) नित्यता क्षयात् ॥ २५ ॥

अमुक्तसमवेतत्वात्तस्यापरअभवेत्यसत् ।
तस्य सत्समवेतत्वे मा स्यात्तस्यां हि तद्गतेः ॥ २६ ॥

अमुक्तस्मन्यदृष्टादे: तस्मात्बुद्‌ध्यादिरत्र चेत् ।
मुक्तेऽपि [स्याददृष्टादि]सम्बन्धस्याविरोधत: ॥ २७ ॥

संयोगोऽस्यापि सम्बन्धो ह्यदृष्टाद्यैस्तयो: सम: ।
मम स्वस्वामिसम्बन्धमात्र चानुपकारत: ॥ २८ ॥

उपकारोऽपि भिन्नश्चेत्सम्बन्धोऽस्येन न स्थिति: ।
उपकारान्तरापायभेदे माऽऽत्म नित्यता ॥ २९ ॥

गुणस्य तु न योग्य[त्वमात्मन्त] कल्पे यदि ।
तदाकारान्तरनित्यत्वमभेदाद्वेतदूपणात् ॥ ३ ॥

तस्मादतिप्रसङ्गस्य(स्या)परिहार: मागुदीरित: ।
आत्म बुद्‌ध्यारम्भादिर्विधि स्यात्समवायत: ॥ ३१ ॥

तत्र युगपत्मे तु स्यात्प्रागुक्तं दूषणं तव ।
समस्तु क्वाभावो नित्या(त्यैकान्त)वान्तिक(प्रवादिम:)॥३२॥

इति नित्यवादिनं प्रति धर्मस्तु
भोक्त्रभाव-सिद्धि ॥४॥

[७ जगत्कर्तृरभाव-सिद्धिः]

ततः सोपाय एवा[ऽयं भ्यस्त-रागा]दि-दूषणः ।
सत्त्वस्यापवर्गी च सर्वेषां मुक्तिभावतः ॥ १ ॥
ज्योतिःशास्त्रादिदर्शितस्यान्यथानुपपत्तितः ।
सदृशमाणात्कायस्तीत्यनुमा युक्तिरिष्यते ॥ २ ॥
निरुपाये न सा युक्तिस्तस्यापकर्षस्य-साधनात् ।
द(दु)ष्ट-वाक्यस्य च युक्ता(क्तो)सोपायोऽपि च [निष्यते] ॥ ३ ॥
[विपुल]-कल्पना-आशागम्भीरोदारमूलक ।
इत्यादि-वाक्य-सद्भावात्स्यापि बुद्धोऽप्यवक्तृता ॥ ४ ॥
विकल्पयोनयः शब्दा[2] इति बौद्ध-वचः श्रुतः ।
कल्पमाया विकल्पस्साम हि बुद्धस्य वक्तृता ॥ ५ ॥
अभिप्रायार्थ-विकल्पोऽपि तस्य यत्स्यादिदं भवत् ।
विपुल-कल्पन[ा]शास-ग[म्भीरोदारतं च]च ॥ ६ ॥
विकल्पयोनि-शब्दस्याऽप्यनिष्टा स्यात्प्रमाणता ।
ततो बुद्धोऽप्यवक्तैव वक्तृत्वे दुष्यागपि ॥ ७ ॥
किञ्च प्र(भिपा)स्य-पर-श्रोतृदिरस्य-सूत्रे हि भेदतः ।
सोपायो निरुपायो वा भवद्रूपमप्यपुष्कलाक् ॥ ८ ॥

---

1 'कर्मजन्तुत्वात् सत्त्वभावनाबलात्कर्षोऽस्ति मलिसंस्कारादिवदेतद्विशेषात्म-धातुत्वस्येन' इति भाषा ।

2 प्रमाणवार्तिक 1-1 ।

3 'विकल्पयोनयः शब्दा विकल्पाः शब्दयोनयः ।
तेषामन्योन्यसम्बन्धो नार्थान् शब्दाः स्पृशन्त्यमी ॥'
—उद्धृत न्यायकुमु २ २१० ।

तद्धेतोर्व्यभिचारित्वात्तस्मात्रे स्यादसिद्धता ।
नो चेत्तद्व्यभिचारित्वं हैत्व-न्तरस्य कल्पनाम् ॥ २० ॥

तस्मादुभयथाऽपि स्यात्कर्तृत्वस्य रसिद्धता ।
प्राक्प्रदर्शितवत्-दोषाच्च नेश्वरोऽयं परोदितः ॥ २१ ॥

किञ्चैव पर सिद्धोऽपि चैत्यसृष्टिमपीष्यताम् ।
न हि स्वाभ्यार्थि-कृत्यं स्याद्विरागे विरत-चेतसि ॥ २२ ॥

इति जगत्कर्तृत्वाभाव-सिद्धिः ॥ ७ ॥

[अर्हत्सर्वज्ञ-सिद्धिः]

यतो भवेदर्हन्नेव सोपायोऽपि सर्ववित् ।
अन्यथानुपपन्नत्वाद्वितीयमनुमा स्थिता ॥ १ ॥

विप्रतिपद्य स किञ्चिज्ज्ञो मर्त्यो वक्तृत्वभावतः ।
अन्यथाविपर्ययादेः सर्वज्ञो [नेत्य]सम्भवम् ॥ २ ॥

न हि सर्वज्ञ-वक्तृत्वविरोधः कश्चिदीक्ष्यते ।
सहानवस्थितिर्न स्यात्सहावस्थिति-दर्शनात् ॥ ३ ॥

ज्ञानोत्कर्षेषु सार्वज्ञ्यं वक्तृत्वं हि वर्धते ।
वैशिष्ट्यादप्यभीप्सितविरोधोऽन्योऽपि नो भवेत् ॥ ४ ॥

अन्योन्यपरिहारो हि विरोधोऽन्यः स किं भवेत् ।
सहाव[स्थित]योर्नैतयोस्तु तयोर्भावयोः ॥ ५ ॥

किञ्च स्याद्वक्तृत्वादर्थो विज्ञानोत्कर्षकारणो ।
वाग्मिताकारणत्वं हि वैशिष्ट्यं तस्य सम्भवम् ॥ ६ ॥

किञ्चैव पर तत्रापि वक्तृत्वं छद्मिस्यसात् ।
विरोधो ह्यन्ययोस्त[1] स्यात्प्रकाशा-न्धकारयोरिव ॥ ७ ॥

---

1 सद् भवना ।

अन्यथानुपपत्तोऽपि नार्थोऽप्रामाण्यसाधकः ।
¹स विरोधस्य हेतुत्वं तथाप्रामाण्यसाधकः ॥ १८ ॥
हेतोस्तत्सूचिता दृष्टा सुप्ता(व्याप्ती) वचसीति चेत् ।
तथापि दोषतः सा स्यादन्वय-व्यतिरेकतः ॥ १९ ॥
ततोऽप्रयोजको² हेतुरविनाभाव-हानितः ।
पुरुषत्वादिवद्धेतोर्विपक्षेणाविरोधतः ॥ २० ॥
ततः प्रमाणसंवादित्वादर्हद्वाक्यं प्रमा भवेत् ।
बुद्धवाक्येऽपि, न वाक्येषां दृष्ट-बाधकत्वस्य³ साधनात् ॥ २१ ॥
इति भगवदर्हत एव सर्वज्ञत्वसिद्धिः ॥ ८ ॥

[९ अर्थापत्तिप्रामाण्य सिद्धि]

अर्थापत्तिः प्रमाणं न तथा सर्वविदः कथम् ।
सिद्धिरथेत्, तत्प्रमाणं हि स्यान्मीमांसक-सम्मतम् ॥ १ ॥
किञ्चानुमानमेवेदमर्थापत्तिरसत्यपि ।
दृष्टान्ते न हि दृष्टान्तः प्रमाणास्तित्व-साधने ॥ २ ॥
दृष्ट-साधनतः सन्ति प्रमाणानीत्यनुमानतः ।
साध्यते च तदस्तित्वमविनाभावभावतः ॥ ३ ॥
अप्रमाणाच्च दीप्ताग्निरनिष्टाप्तेरपि सम्भवात् ।
कल्पितात्र ततः मा स्यात्किं दाहः कल्पिताग्नितः ॥ ४ ॥

---

१ प्रतीत्यभावोऽर्थे सति बुद्धवाक्यानीति पूर्वोक्त ।

२ साध्यास्साधकाः अन्यथानुपपन्नत्वान्न इत्ययः । ३ दोषदुष्ट वचनस्य । ४ अद्वैतवादिनो (शून्याद्वैतवादिनो)ऽपि प्रमाणानि सन्ति, इष्टानिष्टसाधकत्वान्यथानुपपत्तेरिति भावः ।

अन्यैरप्यभ्युपगन्तव्यं पक्षे साध्यस्य च ग्रहः ।
न हि साकल्यतो व्याप्तिस्तत्रास्यानवबोधने ॥१७॥

साध्य-साधनयोर्व्याप्तेरसाकल्येन निर्णये ।
साधनं गमकं न स्यात्तत्पुत्रत्वादिहेतुवत् ॥१८॥

स श्यामस्तस्य पुत्रत्वादन्यपुत्रवदित्यतः ।
साकल्य-व्याप्त्यनिर्णीत्या श्यामत्वं हि न सिद्ध्यति ॥१९॥

अन्तर्व्याप्त्यनपेक्षायां दृष्टान्ते व्याप्ति-दर्शनात् ।
हेतुमर्थेऽस्य चेत्ति हेत्वाभासो न कश्चन ॥२ ॥

त्रिलक्षणं च तत्रास्ति पक्षधर्मत्वमुख्यकम् ।
ततोऽन्तर्व्याप्ति-वैकल्यादेवास्याहेतुता स्थिता ॥२१॥

ततोऽवश्यमपेक्षत्वाद् दृष्टान्ते सत्यविस्फुटम् ।
तयैव गमकत्वाच्च यथाऽन्तर्व्याप्तिरेव सा ॥२२॥

तथा च पक्ष एव स्याद्विनाभाव-निश्चयः ।
विपक्षे बाध-सामर्थ्यात्तदभावोपपत्तितः ॥ २३ ॥

इत्यर्थापत्तिप्रामाण्य-सिद्धिः ॥ ९ ॥

[वेदपौरुषेयत्व-सिद्धिः]

विपक्षे न तु बाधाऽस्ति ज्योतिःशास्त्रे हि वेदवत् ।
अपौरुषेयता सिद्धयेऽसौ वेदेऽपि सम्भवेत् ॥ १ ॥

ततोऽन्यथानुपपन्नत्वं तत्प्रामाण्ये न युज्यते ।
अन्यथाऽप्युपपन्नत्वादिति चेदिदमप्यसत् ॥ २ ॥

---

१ ज्योतिःशास्त्रोपदेशः स चापौरुषेयो वेदोऽपि सिद्धयतीति न वक्तुं शक्यते। स्वीकर्तव्य इति दर्शयितो मीमांसकस्याशयः ।

पौरुषेयो मतोऽर्थो वा वाच्य-वाच्यात्मलक्षण: ।
मस्तकादिवर्णविस्पष्टमनुमानस्य दर्शनात् ॥ ३ ॥
वेद वर्णस्य वर्णानामभिव्यक्तिमतस्य च ।
नित्यताऽप्यत्र वर्णानामक-बन्ध-स्मृतेयदि ॥ ४ ॥
न च वर्णस्य नित्यत्वं देश-कालादिभेदिन: ।
तस्येव प्रतिपन्नत्वात्स्पष्टाद्भूरिव सर्वथा ॥ ५ ॥
स एवायमकारादिरित्यादिप्रत्ययोऽपि वै ।
सादृश्यात्स्यादभेदाच्चेदन्यथापि च सम्भवेत् ॥ ६ ॥
सैवेयं स्याद्बुद्धिरिति प्रत्ययभावत: ।
साम्प्रते तत्र भामेदप्रत्ययाद् दर्शितप्रमात् ॥ ७ ॥
भ्रान्तत्वं प्रत्यभिज्ञा स्यात्तास्य-भेदस्य दर्शनात् ।
अभेद सुख-दु:खादे प्रत्यात्मा(त्म ?)मिवाति कथम् ॥ ८ ॥
इति चेत्कि न वर्णेऽपि भ्रान्ता सा तुल्यदोषत: ।
उदात्तात्त्यादिभेदो हि सकलस्तत्र च दीप्यते ॥ ९ ॥
अभिव्यञ्जकवाय्वादेर्भेदाद्भेदोऽत्र चेदयम् ।
तथापि भेदतोऽभीष्टा सुखादेर्निर्गति परै ॥ १० ॥
प्रदेशाद्यैरपरस्य नित्यव्यापकस्य चात्मन: ।
व्यापिनोऽप्येवं भेदश्चेत्तद्वर्णेष्वयं कथम् ॥ ११ ॥
तत स्यात्प्रत्यभिज्ञानादोष-साम्यात्तच्च सर्वथा ।
वर्णे नित्यत्वसिद्धिर्वक्तृसन्मयीवस्य च स्थिति: ॥ १२ ॥
वाच्य-वाचकसम्बन्ध-परिज्ञानं न सम्भवेत् ।
यथादरवचनित्यत्वं सङ्केतित-वाच-वचात् ॥ १३ ॥
स्यादयं गौ घटोऽयं स्यादिति सङ्केतितं वच: ।
स्यादिव वक्तरनुस्मृत्या वाच्य(च्या)ऽर्थो हि न चान्यथा ॥१४॥

इति चेत्तन्नित्यत्वेऽप्येतज्ज्ञानं न सम्भवेत् ।
सादृश्ये ह्यर्थ-शब्दानां तत्सङ्केतस्य सम्भवः ॥ १५ ॥
ईदृगर्थस्य शब्दोऽयमीदृग्वाचक इत्ययम् ।
सङ्केतः कल्पिते (तो) ऽत्र नित्य-सामान्य-रूपयोः ॥ १६ ॥
व्यापि वा व्यक्तिनिष्ठं वा न हि नित्यं तदीष्यते ।
व्यक्तिं विनाऽप्यदृष्टं चेदस्ति तन्न किं भवेत् ॥ १७ ॥
तत्सामान्येऽपि सादृश्यं भवत्येवान्यथा कथम् ।
सदृशोऽयमनेनेति धीः सामान्यात् सा न हि ॥ १८ ॥
एकत्वबुद्धिहेतुत्वं ह्यस्यान्यैरवकल्प्यते ।
सादृश्यं च न चानित्यं भवेद्व्यक्त्युद्भवं हि तत् ॥ १९ ॥
सामान्यापेक्षया नित्यमनित्यं व्यक्त्यपेक्षया ।
तस्मात्सादृश्य एवाऽयं सङ्केतो युक्तिभाजनः ॥ २० ॥
सादृश्ये यदि सङ्केतस्तद्विरोध(य)स्मृतिः कथम् ।
विरोधानुस्मृतौ हि स्याद्विरोधार्थावबोधनम् ॥ २१ ॥
इति चोद्यं च तुल्यं स्यान्नित्यसामान्यवादिनाम् ।
व्यक्तेर्व्यापिनि भिन्नेऽत्र तत्सङ्केतावकल्पनात् ॥ २२ ॥
समवायेन सम्बद्धमिदं भिन्नमपीति चेत् ।
किं न तादात्म्यसम्बन्धो व्यक्ति-सादृश्ययोरपि ॥ २३ ॥
वै. पौराणिककल्पपरिणामस्य शक्यता ।
उच्यते, न च सम्बन्धो ज्ञाताणूनां त्वयं भवेत् ॥ २४ ॥
एकमात्र-प्रविष्टानां तदैवात्मव्यतिरेच न ।
इति चोद्यं च वर्णानां व्यञ्जकेऽपि ध्वनित्वपि ॥ २५ ॥
तद्ध्वनीनां न वर्णत्वं न हि तद्व्यञ्जकं स्वयम् ।
भाषायां मर्यादा वर्ण-विरोधात्-प्रसङ्गतः ॥ २६ ॥

ततो वेदस्य नैव स्यात्कर्तु स्मरणादपि ।
अपौरुषेयता, तस्मान्नित्या स्यात्पौरुषेयता ॥ १९ ॥

इति वेदापौरुषेयत्व-सिद्धिः ॥ १० ॥

[११ परतः प्रामाण्य-सिद्धिः]

स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम् ।
न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते ॥ १ ॥

इति वार्तिक-मन्त्रार्थवादेष्वपि स्यात्स्वतः प्रमा ।
तमास्य पौरुषेयत्वं तस्ये वेदा न सा स्वतः ॥ २ ॥

इत्यप्यसमप्रमाणानां प्रामाण्यं परतो भवेत् ।
यथा, तथाऽनुमानेन परप्रमाणेन साध्यते ॥ ३ ॥

प्रामाण्यं न प्रमाणानां स्वतोऽप्रामाण्यवद्भवेत् ।
प्रामाण्यन्तर-अन्यत्वात्स्वमहे कार्यभावत ॥ ४ ॥

अप्रामाण्यस्य सर्वेषामुत्पत्तिः परतो मता ।
दोष-वैरूप्यवैयर्थ्यानात्तान्नेरथ भावतः ॥ ५ ॥

निर्णीतसत्यं अपमन्यस्य परतो मतम् ।
भवेदप्रमा ज्ञानमिति ज्ञात्वा निवर्तनात् ॥ ६ ॥

स्वतोऽप्रामाण्यविज्ञानमेतत्रापि परं भवेत् ।
तद्धि स्यात्परमन्येषाम् चमेचकपादिनाम् ॥ ७ ॥

प्रवृत्तिसत्ये कार्ये प्रमाणा स्वमतं परम् ।
विपर्यासाव्यभिचारं हि स्वतो ज्ञाते प्रवर्तिते ॥ ८ ॥

एवं च परतः सिद्धा प्रामाण्य-वर्मरक्षमा ।
गुणात्परत एव स्यात्तदुत्पत्तिरपि स्फुटम् ॥ ९ ॥

तदोपध्वंसनार्थं स्याद् गुणवद्वक्त्रपेक्षणम् ।
इति चेत्तद्गुणायैव किं न स्यात्तदपेक्षणम् ॥ २२ ॥
न हि स्वतोऽसती शक्तिरित्याद्यपि च मौल्यत ।
शब्दाप्रामाण्यशक्तिर्हि दुष्टवक्तृप्रकल्पिता ॥ २३ ॥
तदर्थं स्यात्तदपेक्षित्वं स्वतः प्रामाण्यसिद्धितः ।
प्रयोजनान्तरासिद्धेश्चेदन्योन्यसमाश्रयः ॥ २४ ॥
स्वतः प्रामाण्यसिद्धौ स्यात्कथं तदपेक्षणम् ।
तदर्थे तदपेक्षित्वे तत्सिद्धिः स्यादिति स्फुटम् ॥ २५ ॥
ततः शब्दे गुणोऽपि स्यादाप्तोक्तत्वं तथा सति ।
दृष्टान्त एव शब्दः स्यादन्येषु गुण-साधने ॥ २६ ॥
ततः प्रामाण्य-निष्पत्तिः सामग्र्यन्तरतो भवेत् ।
तत्कार्यं स्वग्रहाच्चेति प्रामाण्यं परतो भवेत् ॥ २७ ॥
प्रामाण्ये परतः सिद्धे स्वतः प्रामाण्यहीनता ।
ततश्च पौरुषेयत्वाद्धेतोऽप्यस्य न बाधकः ॥ २८ ॥

इति परतः प्रामाण्य-सिद्धिः ॥ ११ ॥

[१२ अभावप्रमाणदूषण-सिद्धिः]

प्रागभावाद्यभावज्ञा नाभावप्रमा ततः ।
सर्वज्ञाभाववित्तिः स्यात्तदर्थेत्यपि दुर्लभम् ॥ १ ॥
भावप्रमाणतोऽन्यायास्तस्या एवाभिवीक्षणात् ।
नास्त्यत्र घट इत्यादौ सा प्रमाणविधीत्यसत् ॥ २ ॥
अत्रेति ज्ञानमध्यक्षं प्राग्विज्ञाते घटे स्मृतिः ।
अनुपलम्भतो नास्तीत्युत्पन्नानुमितिर्भवेत् ॥ ३ ॥

तदुपमर्दने नाम कार्यस्योत्पत्तिरेव च ।
कारणस्यैव रूपं स्यात्प्रागभावोऽपि नाऽपरः ॥१४॥
तथा च कारणादेव भावाभावात्मकादिदम् ।
तादृशं कार्यमुत्पन्नमित्यनेका वस्तुस्थितिः ॥१५॥
तत्र तादृगभावोऽपि तत्प्रमा च तथा सति ।
तथाऽपि सर्वविदा न स्याद्बाधा वन्ध्यासुतादिव ॥१६॥

इत्यभावप्रमाणपूरण्य-सिद्धिः ॥१२॥

[१३ तर्कप्रामाण्य-सिद्धि]

तर्को न स्यात्प्रमाणं तदविनाभावविलक्षणम् ।
इति चेद्व्याप्तिधीः किं स्यादध्यक्षादेरगोचरे ॥१॥
न हि साकल्यतो व्याप्तिरध्यक्षेण प्रतीयते ।
सर्वदेशादिविज्ञानाद्विज्ञाने हि स सर्ववित् ॥२॥
असाकल्येन तद्धीतो हेतुर्न गमको भवेत् ।
वस्तुप्रसाधितवत्, किन्तु व्यभिचारविधाऽनुमा ॥३॥
क्षणिकत्वादिसाध्यस्य व्याप्तिज्ञानेन सिद्धितः ।
साध्यतत्साधनावित्तौ न हि तद्व्याप्ति-निर्णयः ॥४॥
न हि प्रत्यक्षतो ज्ञाते नैरात्म्यादावनुमा भवेत् ।
क्षणिकस्य समारोपव्यवच्छेदनायानुमेत्यसत् ॥५॥
आरोपो यदि तत्र स्यात्प्रतीतावपि किं न सः ।
प्रत्यक्षविषयत्वस्य सर्वत्राऽप्यविशेषतः ॥६॥
विशेषः क्वापि चेन्नास्य नैरंश्यं सकलवस्तुनः ।
निरंशक्षणिकत्वं हि बौद्धैः प्रतिपाद्यते ॥७॥

निर्गुणत्वं गुणादीनामद्रव्यत्वेन कथ्यते ।
इतीयमनुमा तत्र बाधिका चेत्, तदप्यसत् ॥४२॥

कथं स्यादसम्भवे युक्ते गुणवत्त्वं हि कथ्यताम् ।
तत्र स्यात्साध्यवैकल्यं दृष्टान्तस्येह कथ्यते ॥४३॥

गुणवत्त्वं गुणादीनां द्रव्यत्वस्यैव सिद्धितः ।
अद्रव्य[त्वस्य] हेतोश्च स्यादसिद्धिरसम्भ्रमा ॥४४॥

हेतोरस्मादगुणादीनां निर्गुणत्वस्य सिद्धिता ।
हेतोः, इत्यपि नैव स्यादन्योन्याश्रयदूषणात् ॥४५॥

निर्गुणत्वमतो हेतोर्गुणादीनां हि सिद्ध्यति ।
निर्गुणत्वस्य सिद्धेश्च तेषामद्रव्यता भवेत् ॥४६॥

तस्माच्च यद्गुणादीनां संख्या, संख्यैव न क्वचित् ।
भिद्यन्त इति गुणादेश्च संख्यातादात्म्यमिष्यताम् ॥४७॥

किञ्चोपचारतः संख्या गन्धादौ चेत्तया भवेत् ।
पृथक्त्वं चोपचारेण गुणत्वस्याविरोधतः ॥४८॥

तदा पृथक्त्वमेव स्याद्गन्धादेस्तद्वतो न किम् ।
पृथक्त्वस्योपचारे स्यादपृथक्त्वं हि वास्तवम् ॥४९॥

आकारभेदभावेन गन्धादेस्तद्वतो भवेत् ।
भेद एव पृथक्त्वस्य वास्तवत्वे हि नापरम् ॥५०॥

पृथक्त्वमथ गन्धादौ तद्भेदोऽपि न युज्यताम् ।
वैलक्षण्यं स्वरूपस्य तद्भेदो हि विभाव्यते ॥५१॥

इत्यप्यसारमेतद्धि पृथक्त्वं स्यान्निरर्थकम् ।
तद्विलक्षणमात्रस्य पृथिव्यादौ च भवत ॥५२॥

ततः पृथक्त्वमिष्टं चेद्वास्तवं वास्तवी भवेत् ।
संख्याऽपीति गुणादेः, स्याच्चासत्त्वं च तया स्थितम् ॥५३॥

तदवस्था गता न स्यात्सापि मिथ्येतिरित्यसत् ।
तेऽप्यविद्या विना तु सा ह्यविद्याऽत्र वर्णिता ॥५४॥

अनस्मिन्स्तद्ग्रहो भ्रान्तिरविद्या सापि कस्य वा ।
न ब्रह्मजीवयोर्युक्ता केन तद्धानिरित्यपि ॥५५॥

परत प्रमितत्वं चेद् ब्रह्मणः स्यादनिस्थता ।
पूर्वप्रमितस्यैव परस्मात्प्रमितता यत ॥५६॥

तस्य प्रमितता नो चेत्तदस्तीति वचः कथम् ।
सुरत्वाप्रमितत्वेऽपि न ब्रह्मस्वपरग्रहात् ॥५७॥

सुरत्वमेव चेद् ब्रह्म तदस्तीति वचः कथम् ।
सुरत्वाप्रमितत्वेऽपीत्यादिदोषो न वारकम् ॥५८॥

सुरता नाम मानं स्यात्　　　गमिति चेद् म् ।
सर्वोक्तमिदं ब्रह्म न विवादोऽत्र कस्यचित् ॥५९॥

इत्यसत्त्वं हि सद्मानं तदभेदेन दृश्यते ।
प्रत्यात्ममानभिन्नं हि निर्विवाद विवोच्यते ॥६०॥

उपाधिसंगतो भेद कल्पितो नैव वास्तव ।
न ह्याकाशस्य भेद स्याद् घटाम्बरादिभेदत ॥६१॥

इत्यसद्भेदभावविभ्रान्तित्वात् कल्पिता भवेत् ।
जीवब्रह्मान्ययोर्नेति मा[गेव प्रति]पादनात् ॥६२॥

नित्यं कल्पित एवाय भेदस्तस्येति निरवद्य ।
मानात्पृथक् द्वैतमन्यस्मात् किमार्थं स्याद्वकल्पित ॥६३॥

न प्रमाणात सिद्ध किञ्चिदवेति युक्तिमत् ।
तस्माज्ज्ञानस्य भग स्याद्बोधात्म ———॥६४॥
निबाध बाधशङ्काया प्रमयमपि ———।
——स्वपराभ्यामिति स्थितम् ॥६५॥

— — — ।
तत्रापि रूपयं नापि प्रत्यक्षादिसदस्ययात् ॥१२४॥
प्रत्यक्षादि प्रमाणस्यात् प्रामाण्यं हि तथा सति ।
तत्कार्यं प्रकृत्या न स्यात्मीयस्याप्युपकृद्गणात् ॥१२५॥
तथा गत्यन्तराभाव वदात् स्याद् प्रमानिरूप ।
भा — — ॥१२६॥
तथा प्रमापरिज्ञानं वदाद्युत्पत्तिमिष्यताम् ।
तद्भवद्भयवायस्याद्व्याविषकाविरोध ॥१२७॥
विरोधस्तत्र चास्त्येव कार्यमद्भविलाकनात् ।
न हि मृत्पार्थिवं कार्यं पट्यादि(के)ऽपि दृश्यते ॥१२८॥
इति चेन्न तु तत्र — — — ।
येभेदोऽपि युज्यते ॥१२९॥
कार्यस्य शक्तिमद्वत् सत्त्वमेवास्य युज्यते ।
शक्तिस्याम हि सत्त्वं स्यात् तमाविषयस्य शक्यता ॥१३०॥
प्रत्यक्षस्याविरोधेऽपि वदाद्याविषयत्वत ।
प्रमाज्ञानसमुत्पत्ता साऽप्यवाप्याय सम्भवेत् ॥१३१॥
तथा प्रमाविद — — ।
भवतीति श्रुति — — ॥१३२॥
इति प्रमास्वरूपस्य परेषां प्रतिपाद्यम् ।
स्पर्शं वेदादिरास्तं स्यात प्रमाविदः परं ॥१३३॥
किञ्च प्रमापरिज्ञानं तत्कामे प्रमा वा फलम् ।
यद् प्रम वेद प्रमैव भवतीति श्रुति प्रमा ॥१३४॥
प्रमैव यदि — — — ।
रूपेण वि — भवत् ॥१३५॥

— यं निश्चाय प्रत्ययस्ततः ।
प्रत्यक्षं हि तत्सत्त्व[त्वा]दन्यदनिश्चयनम् ॥१४८॥
प्रत्यक्षं भवसत्त्व स्यात्प्रत्या(त्या)मेदयो स्फुटम् ।
ततस्तद्भ्रान्तिविच्छेदोऽप्यनुक्तं प्रत्यक्षी फलम् ॥१४९॥
शुक्तिका रूप्यविभ्रान्त्या दृश्यते — ।
भावहानिवत् ॥१५०॥

अन्यथा प्रतिभासत्वाद्बहिरप्यसद्भावत् ।
तत्र रूपं प्रतिभासत्वं दृश्यत्वमिव दीपवत् ॥१५१॥
निश्चयप्रतिभासत्वं प्रत्यक्षीव परत्र च ।
तथास्मादनुमानाच्च तद्धेतोरस्ति बाधनम् ॥१५२॥
—।
विरहभवो भवतोऽयतरङ्गैर्विन्दुमेववत् ॥१५३॥
यथा च तरङ्ग च चन्द्रश्चन्द्र इति स्फुटम् ।
अभ्यन्तरानुविद्धस्याचन्द्रमेवो मृषा मतः ॥१५४॥
तथा घटादिभेदोऽपि सत्यमित्याद्यभेदवत् ।
अनुविद्धा मृषैव —॥१५५॥
रित्व तद्धेतो स्याभिरङ्कुराम् ।
तन्तुसाम्यादिपीभेद वास्तवऽप्यस्य दर्शनात् ॥१५६॥
धीरिव धीरियं चाति तदभेदानुविद्धता ।
तद्धीष्वपि हि दृश्येति तदनुत्तम चाक्षवत् ॥१५७॥
यत्र वास्तव एवार्थं तद्धीभेदोऽपि सं —।
—वास्तवम् ॥१५८॥

ततो भेदोऽन्यथान्वं च न सर्वेषां वास्तवम् ।
न हि दृष्टोऽस्ति यत्र स्यात्तत्कार्यं चापि वास्तवम् ॥१५९॥

रव कार्यं तु न हि कारणम् ।
तथापि तद्द्वयं स्यात् किं न [हि]सत्त्वादिकं सकृत् ॥५॥
अन्यापोहादभीष्टश्चेद् समस्तैवस्तथा भवेत् ।
साङ्कर्यं सर्ववस्तूनां नीरूपोऽयं हि सर्वेण ॥६॥
गौरश्वादभावापोहात्स्यात् --- -- ----।[1]

---

१ मूडबिद्रीय जैनमठग्रन्थागारगत १ । संख्यांकिते ताडपत्रीयग्रन्थे मस्तु 'स्याद्वादसिद्धि' ग्रन्थ पत्रसंख्या १११का प्रारम्य पत्रसंख्या ११९ पर्यन्तमस्पष्ट पत्रोपलभ्यते । तत्र १११ तः ११३ पर्यन्तं सम्यक्त्वानि तत्र पत्राणि त्रुटितान्यपि विद्यन्ते ।—सम्पादक ।

परिशिष्ट

२ स्याद्वादसिद्धिगतानां व्यक्ति-सिद्धान्त-सम्प्रदायादि बोधकविशेषनाम्नां सूची

होता तो भौंहों का चढ़ जाना ही कोप का सबसे बड़ा (परिणाम) होता मौन ही दण्ड होता आपस में एक-दूसरे को देखकर हँस देना ही अनुग्रह और दृष्टिपात ही प्रसन्नता का कारण होता था पर देखो न वह प्रेम आज इस दशा को पहुँच गया है कि तुम मेरे पैरों पर पड़े हो और मैं मान कर बैठी हूँ और तुम्हारी प्रार्थना पर भी मुझ अभागिनी का कोप शान्त नहीं हो रहा है।

द्वेधा ज्येष्ठा कनिष्ठा चेत्यमुग्धा द्वादशोदिताः ।

मध्या और प्रगल्भा नायिकाओं के प्रत्येक भेदों के ज्येष्ठा और कनिष्ठा भेद होते हैं। इस प्रकार मध्या और प्रगल्भा के कुल भेदों की सम्मिलित संख्या १२ होती है।

मुग्धा के ये भेद नहीं होते हैं वह एक ही रूप की रहती है।

ज्येष्ठा और कनिष्ठा का उदाहरण 'अमरुशतक' के एक ही श्लोक में मिल जाता है— 'एक आसन पर बैठी हुई अपनी दोनों प्रेमिकाओं को देख क्रीडा के बहाने पीछे से आकर नायक एक की आँख मूँद कर अपने कन्धे को जरा घुमाकर प्रेम से उल्लसित मनवाली तथा आनन्द से विकसित मुखवाली अपनी दूसरी नायिका को प्रसन्नता से चूम रहा है।

नायिका के ज्येष्ठा और कनिष्ठा ये भेद नायक के दाक्षिण्य और प्रेम इन दोनों के कारण ही नहीं होते अपितु केवल प्रेम के कारण भी होते हैं। दाक्षिण्य के कारण ज्येष्ठा कनिष्ठा व्यवहार नहीं होता है। जो नायक सहृदयता से ज्येष्ठा में आचरण करे वह दक्षिण कहलाता है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि सहृदयता के साथ जिसके साथ व्यवहार होता है वह ज्येष्ठा है। इस बात को दक्षिण की परिभाषा देते समय स्पष्ट कर दिया गया है।

इस प्रकार से नायिका के (१) धीरमध्या (२) अधीरमध्या और (३) धीराधीर-मध्या (४) धीरप्रगल्भा (५) अधीरप्रगल्भा और (६) धीराधीरप्रगल्भा ये ६ भेद हुए। फिर इनके ज्येष्ठा और

कनिष्ठा भेद करके कुल १२ भेद हुए।

रत्नावली नाटिका मे वासवदत्ता और रत्नावली का उदाहरण ज्येष्ठा-कनिष्ठा के है। इसी प्रकार महाकवियो के और प्रबन्धो में भी इस बात को समझ लेना चाहिए।

परकीया नायिका

अन्यस्त्री कन्यकोढा च नान्योढाङ्गिरसे क्वचित् ॥ २ ॥
कन्यानुरागमिच्छात कुर्यादङ्गाङ्गिसंश्रयम् ।

परकीया नायिका के दो भेद होते हैं—(१) कन्या और (२) विवाहिता। विवाहिता को ऊढा तथा कन्या को अनूढा कहते हैं। प्रधान रस के वर्णन मे ऊढा नायिका का प्रेम प्रदर्शन कहीं भी ठीक नहीं है। हाँ कन्या के अनुराग का प्रदर्शन प्रधान और अप्रधान दोनों रसों मे हो सकता है॥ २ ॥

दूसरे नायक से सम्बन्ध रखने वाली ऊढा का वर्णन—नायिका अपनी पड़ोसिन से कह रही है— हे बहन थोड़ी देर के लिए जरा मेरे घर का भी खयाल रखना क्योंकि मेरे इस बच्चे का पिता अर्थात् मेरा पति इस कुएँ के स्वादरहित जल को प्राय नहीं पीता है। देखो बहन यद्यपि मैं एकाकिनी हूँ और जिस तालाब का पानी लेने जा रही हूँ वहा तमाम के इतने घने वृक्ष है कि दिन मे भी अन्धकार का साम्राज्य रहता है। और भी दिक्कत यह है कि वहाँ नरकट के ऐसे पुराने-पुराने ठूँठ लग हुए हैं जिनमे मेरी गाँठ पड़ गई है। अत उनके भीतर से पानी निकलना उनके से खाली नहीं है और मुझे तो जाना ही है चाहे जिन जिन मुसीबतो का सामना करना पड़े।

इस प्रकार की ऊढा को प्रधान अङ्गी रस का विषय कभी भी नहीं रखना चाहिए। इस बात का केवल संक्षेप म बताया गया है। कन्या यद्यपि अविवाहित रहती है फिर भी पिता माता आदि के अधीन रहने

के कारण परकीया कही जाती है। कन्या पिता आदि के वशीभूत होने से अलभ्य ही रहती है फिर भी उसके माता-पिता आदि तथा अपनी स्त्री से छिपकर ही नायक उसके साथ प्रेम-व्यापार में प्रवृत्त होता है।[1] जैसे 'मालतीमाधव' में माधव का मालती से तथा 'रत्नावली' नाटिका में वत्सराज का रत्नावली (सागरिका) से प्रेम करना।

कन्या के अनुराग को प्रधान अप्रधान दोनों रसों में बिना किसी रोक-टोक के स्वेच्छया वर्णन करना चाहिए। जैसे 'रत्नावली' नाटिका में रत्नावली तथा 'नागानन्द' नाटिका में मलयवती का अनुराग-वर्णन।

साधारणस्त्री गणिका कलाप्रागल्भ्यधौर्त्ययुक् ॥ २१ ॥

सामान्य नायिका—वणिका को सामान्य नायिका कहते हैं। यह कला प्रगल्भता और धूर्तता से युक्त होती है ॥२१॥

इसके व्यवहार का अन्य शास्त्रों में विस्तृत वर्णन है। मैं केवल उसे संक्षेप में बता रहा हूँ—

छन्नकामसुखार्थाज्ञस्वतन्त्राहंयुपण्डकान् ।
रक्तेव रञ्जयेदाढ्यान्निःस्वान्मात्रा विवासयेत् ॥ २२ ॥

यह (गणिका) केवल धन से प्रेम करती है। छिपकर प्रेम करने वाले जैसे पण्डित वणिया ब्रह्मचारी आदि और भाग्यों से धन कमाने वाले मूर्ख उच्छृङ्खल पाण्डुरोगी नपुंसक इन लोगों से यह ऐसे हाव भाव आदि से प्रेम प्रदर्शन करती है मानो यह वास्तव में अनुरक्त हो और तब तक यह अपना प्रेम-व्यापार चलाती है जब तक उनके पास पैसा रहता है। धन ग्रहण करते-करते जब उनके पास कुछ भी नहीं रह जाता तब यह उनका अपमान करके घर से अपनी माता के द्वारा

---

1. 'मालती माधव' प्रकरण का नायक माधव अविवाहित है अतः उसके लिए अपनी स्त्री से छिपकर प्रेम-व्यापार चलाने की बात ही नहीं उठती। 'रत्नावली' नाटिका के नायक में यह बात अक्षरशः घटित होती है

दिखलाई देती है।

यह उसके स्वाभाविक रूप का वर्णन है ॥२२॥

किन्तु प्रहसन को छोड़कर अन्य रूपकों में खास करके प्रकरण में वेश्या के वास्तविक प्रेम का ही वर्णन रहता है।

जैसे 'मृच्छकटिक' प्रकरण में वसन्तसेना और चारुदत्त का प्रेम।

रक्तैव त्वप्रहसने नैषा दिव्यनृपाश्रये।

प्रहसन में नायिका (वेश्या) यदि नायक में अनुरक्त न हो तो भी उसके प्रेम-व्यापार को दिखा सकते हैं क्योंकि प्रहसन की रचना और उसका अभिनय हास्य के लिए ही होता है। पर नाटकों में जहाँ देवता राजा आदि नायक हों वहाँ पर गणिका को नायिका रूप में कदापि नहीं रखना चाहिए।

अब नायिका के अन्य भेदों को बताते हैं—

आसामष्टावस्थाः स्युः स्वाधीनपतिकादिकाः ॥ २३ ॥

इनकी स्वाधीनपतिका आदि आठ अवस्थाएँ होती हैं—

१ स्वाधीनपतिका २ वासकसज्जा, ३ विरहोत्कण्ठिता ४ खण्डिता, ५ कलहान्तरिता, ६ विप्रलब्धा ७ प्रोषितपतिका और ८ अभिसारिका ॥२३॥

ये आठ स्वीया परकीया और सामान्या नायिका की अवस्थाएँ व्यवहार और दशा भेद के अनुसार होती हैं। पहले बताये हुए सोलह प्रकार के भेदों को बताकर फिर नायिका की आठ अवस्थाएँ बताई गई हैं। इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि उन-उन अवस्थाओं से युक्त नायिकाएँ उन-उन अवस्थाओं के धर्म से भी युक्त हुआ करती हैं। अवस्था भेद बताने के समय किसी का उसके अधिक स्थूल होने के सम्बन्ध में भ्रम न हो जाए अतः स्पष्टीकरणार्थ पाठ लिख दिया।

नायिका की ये आठों अवस्थाएँ एक-दूसरे से भिन्न हुआ करती हैं। इनका आपस में किसी के भीतर किसी का अन्तर्भाव नहीं हो सकता

कि दूसरी ने कहा कि हे सखि तू प्रिय की अपने-हाथों-अंकित मंजरी को इस प्रकार दिखाती हुई गर्व कर रही है यह उचित नहीं है दूसरी कोई भी इस प्रकार के सौभाग्य का पात्र बन सकती थी यदि हाथ की कँपकँपी बीच में ही विघ्न न कर देती।

मुदा वासकसज्जा स्वं मण्डयत्येष्यति प्रिये ॥ २४ ॥

१ वासकसज्जा—उस नायिका को वासकसज्जा कहते हैं जो प्रसन्नता के साथ सब शृंगारों से सजकर प्रिय के आगमन की प्रतीक्षा करती रहती है ॥ २४ ॥

जैसे—माघ का यह पद्य—

'अन्य कोई रमणी हस्तपल्लव के आघात से मुखकमल की वायु को रोककर नाक के छिद्रों की ओर से उठने वाली मुख-सुगन्धि की परीक्षा कर प्रसन्न होने लगी।

चिरयत्यव्यलीके तु विरहोत्कण्ठितोन्मना ।

विरहोत्कण्ठिता—विरहोत्कण्ठिता नायिका उसे कहते हैं जिसका पति निश्चित समय पर नहीं आता। इसे अपने प्रिय का कोई अपराध मालूम नहीं रहता। प्रिय के विरह में उससे मिलने के लिए इसका चित्त उत्कण्ठित रहता है।

जैसे—(कोई नायिका अपने प्रियतम की प्रतीक्षा में रही पर उसका पति समय से न आ सका। ऐसी हालत में वह अपने मन को मन में अपनी सखी से कह रही है—) हे सखि वे अभी तक न आ सके। मुझे तो ऐसी आशंका हो रही है कि वे निश्चय ही वीणा-वाद्य के द्वारा किसी रमणी ने इस रात के लिए उन्हें जीत लिया है और वहीं उसके साथ यह सुन्दर रात बिता रहे हैं नहीं तो भला यह कैसे हो सकता है कि ऐसी सुन्दर रात्रि में जबकि आकाश में सुन्दर चाँदनी छिटकी हुई है और पलाशिका के पुष्प नीचे बिखर रहे हैं वे न आयें।

शातेऽभ्यासकृत्चिह्नस्य खण्डितेर्ष्याकषायिता ॥ २५ ॥

खण्डिता—उसे कहते हैं जो पति के शरीर में अन्य स्त्री के साथ किए गए संभोग के चिह्नों को देखकर जल उठे ॥ २५ ॥

जैसे—"कोई नायिका अपने पति के शरीर में परस्त्रीकृत संभोग चिह्नों को देखकर उससे कहती है—अन्य स्त्री के द्वारा किए हुए ताजे नखक्षत को तो कपड़े से ढककर छिपा रहे हो उसके द्वारा किए गए दन्तक्षत को भी तुमने हाथों से ढक लिया है पर यह तो बताओ कि परस्त्री के संभोग को व्यक्त करने वाला जो सुन्दर सुवास तुम्हारे इर्द गिर्द फैल रहा है भला उसको कैसे रोक सकोगे ?

कलहान्तरितामर्षाद्विधूतेऽनुशयार्तियुक् ।

कलहान्तरिता—उसे कहते हैं जो प्रियतम को क्षमा-याचना करते समय फटकार दे और बाद में अपनी करतूत पर पश्चात्ताप करे।

जैसे कोई नायिका सोच रही है—पता नहीं सखियों ने मान में कौनसा ऐसा गुण देखा था जो मुझे करने को कहा और मैं भी इस भामिनी उसे कर बैठी। अब क्या करूं ? प्रियतम ने पास आकर मुझे मनाया और जब मैं नहीं मानी बल्कि उलटे उसका तिरस्कार कर बैठी तो वह दुखी होकर चला गया। अब उसके वियोग में मेरी यह हालत है कि निःश्वास मुँह को जला रहा है हृदय को मथ रहा है निद्रा या नहीं रही है रात-दिन रो रही हूँ अंग सूख गए हैं। न मालूम उस समय मुझे क्या हो गया था जो मैं सखियों की बातों में आकर पैरों पड़े हुए प्रियतम की उपेक्षा कर बैठी।

विप्रलब्धोक्तसमयमप्राप्तेऽतिविमानिता ॥ २६ ॥

विप्रलब्धा—उसे कहते हैं जिसका प्रियतम बताए हुए समय पर न आए। इसी कारण से उसे अपमान भी मालूम होता है अतः वह विमानिता या अपमानिता होती है ॥ २६ ॥

जैसे—कोई अपनी दूती से कह रही है— दूती उठ, अब मैं जा

मणिनूपुर सुशोभित हो रहे हैं। अतः तेरे इस भाग्ययुक्त वेश और सपक्षित चलने आदि से क्या लाभ ?

जैसे और भी— 'कोई नायिका प्रियतम के अभिसरण कराने (बुलाने) के लिए दूती को भेज रही है और उससे कह रही है कि हे दूती उनके पास जाकर इस प्रकार से चतुराई के साथ मेरा सन्देश कहना ताकि मेरी लघुता भी व्यक्त न होने पाए, साथ ही उनके मन में मेरे प्रति करुणा भी उत्पन्न हो जाए।

चिन्तानिःश्वासखेदाश्रुवैवर्ण्यग्लान्यभूषणैः ।
युक्ता षडन्त्या द्वे चाद्ये क्रीडौज्ज्वल्यप्रहर्षिते ॥ २८ ॥

इन उपर्युक्त आठ अवस्थाओं वाली नायिकाओं में शुरू की दो अर्थात् स्वाधीनपतिका और वासकसज्जा सदा प्रसन्न रहती हैं तथा शृंगारिक क्रीड़ा आदि में लगी रहती हैं। ये इनको छोड़ शेष छः चिन्ता निःश्वास खेद अश्रु, ग्लानि वैवर्ण्य आभूषणाभाव आदि से युक्त होती हैं ॥ २८ ॥

परकीया नायिका भी चाहे ऊढ़ा या अनूढ़ा इन अवस्थाओं में से केवल तीन अवस्थाएँ हो सकती हैं। शेष पाँच अवस्थाएँ इनकी नहीं होतीं क्योंकि ये पराधीन होती हैं। परकीया नायिका संकेत स्थान पर जाने से पहले विरहोत्कण्ठिता रहती है और बाद में विदूषक आदि के साथ अभिसरण करने से अभिसारिका तथा संकेतस्थान में दैवात् प्रियतम से यदि भेंट न हो सकी तो विप्रलब्धा हो जाती है। 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में रानी के सामने राजा की परवशता देख मालविका कहती है—'हाँ आज जो नहीं डर रहे हैं इस महाराज का साहस उस दिन देवी इरावती के आने पर मैं भली भाँति देख चुकी हूँ।

यह सुनकर राजा कहते हैं – हे बिम्ब के समान लाल-लाल ओठों वाली ! प्रेमी लोग तो दिखाने के लिए सभी से प्रेम करते हैं। पर हे

बड़ी-बड़ी आँखों वाली ! मेरे प्राण तो तुम्हें ही पाने की आशा पर अटके हुए हैं। खण्डिता नायिका का पति जैसी अनुनय-विनय करता है वह बात यहाँ नहीं पाई जाती। यहाँ पर राजा का मालविका से इस प्रकार कहने का उद्देश्य है कि मालविका अपनी अधीरता के कारण राजा को हर तरह से रानी के अधीन समझ निराश न हो जाए, वह उसके अन्दर विश्वास पैदा करता है।

मालविका परकीया नायिका है, अतः वह खण्डिता नहीं हो सकती, क्योंकि परकीया के सम्बन्ध में स्वकीया खण्डिता होती है, ऐसा नियम है। स्वकीया के सम्बन्ध से परकीया खण्डिता नहीं होती। यहाँ तो राजा दक्षिण नायक है जिसका पहली नायिका के साथ सहृदयतापूर्वक व्यवहार करना उचित ही है।

इसी प्रकार प्रियतम के परदेश में होने पर भी परकीया प्रोषित पतिका नहीं होती। समागम के पूर्व देश का व्यवधान परकीया और नायक के बीच रहा ही करता है। इसलिए वह मिलने के लिए उत्सुक विरहोत्कण्ठिता मात्र हो सकती है।

नायिका के कार्यों में सहायता पहुँचाने वाली दूतियाँ—

दूत्यो दासी सखी कारूर्धात्रेयी प्रतिवेशिका ।
लिङ्गिनी शिल्पिनी स्वं च नेतृमित्रगुणान्विताः ॥ २९ ॥

दासी सखी धोबिन घर के काम-काज करने वाली नौकरानियाँ, पड़ोसिन भिक्षुकी चित्र आदि बनाने वाली स्त्रियाँ आदि जो नायक के सहायक मित्रों के समान गुणवाली होती हैं नायिका की दूतियाँ होती हैं ॥ २९ ॥

नायिका अपनी कार्य-सिद्धि के लिए स्वयं भी दूती बन जाती है। नायक के सहायक पीठमर्द आदि में जो गुण होते हैं उन्हें दूतियों के अन्दर भी रहना चाहिए। जैसे 'मालतीमाधव' प्रकरण में—

"इसे शास्त्रों का पूर्ण ज्ञान है ज्ञान से ही अनुरूप सहज बोध है, गुणों से प्रगल्भता प्राप्त उसकी वाणी है। समय की पहचान प्रतिभा

आदि और कार्यों में यथेच्छया फल प्राप्त कराने वाले गुण उनके अन्दर निवास करते हैं।

सखी का उदाहरण—नायिका की सखी नायक के पास जाकर उलाहना देती है—

"मृगों के बच्चों के समान नेत्रवाली मेरी सखी का तुम्हारे वियोग में कितना हाल है यह मैं कैसे बताऊँ, क्योंकि जो चीज प्रत्यक्ष नहीं रहती उसको बताने के लिए उपमा आदि की सहायता लेनी पड़ती है। बहुत सोचने पर एक वस्तु मेरी दृष्टि में आती है वह है चन्द्र सम्बन्धी मूर्ति। वह मूर्ति अग्नि में गिर पड़ने पर जिस दशा को प्राप्त कर सकती है वही दशा मेरी सखी की है। वह संसार भर के नेत्र धारियों के लिए त्रिलोक में अमृत है पर हाय! आज तुम्हारी कठोरता के कारण ब्रह्मा की वह सर्वोत्कृष्ट रचना बिगाड़ी जा रही है।"

और भी—

"ठीक है तुम देवता मानती हो तुम्हारा अपने मनुष्य जन (व्यक्ति) से अनुराग भी उचित ही है। तुम उसके प्रेम में मरो मैं तो कुछ नहीं कहूँगी क्योंकि उसके लिए मरना भी तेरे लिए श्लाघा का ही विषय होगा।" स्वयंदूती नायिका का उदाहरण—

हे रोकने वाले पवन! मेरे वस्त्रों को क्यों खींचते हो? और एक बार फिर जाओ। हे सुन्दर! मेरा पति दूर है मैं वनवासिनी रहती हूँ तुम्हीं बताओ तो भला तुम्हें छोड़ किसका आश्रय लूँ?

नायिकाओं के अलंकार—

यौवने सत्त्वजाः स्त्रीणामलङ्कारास्तु विंशतिः।

युवावस्था में युवतियों के अन्दर सत्त्व से उत्पन्न बीस अलंकार उत्पन्न होते हैं।

भावो हावश्च हेला च त्रयस्तत्र शरीरजाः॥३०॥

शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च माधुर्यं च प्रगल्भता ।
औदार्यं धैर्यमित्येते सप्त भावा अयत्नजाः ॥३१॥
लीला विलासो विच्छित्तिर्विभ्रमः किलकिञ्चितम् ।
मोट्टायितं कुट्टमितं बिब्बोको ललितं तथा ॥३२॥
विहृतं चेति विज्ञेया दश भावाः स्वभावजाः ।
निर्विकारात्मकात्सत्त्वाद्भावस्तत्राद्यविक्रिया ॥३३॥

इनमें भाव, हाव और हेला, ये तीन अंगों से उत्पन्न होते हैं। शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य, धैर्य ये सात भाव बिना यत्न के ही पैदा होते हैं, इसीलिए इनको अयत्नज कहते हैं। लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, बिब्बोक, ललित तथा विहृत ये दस भाव स्वभावज अर्थात् स्वभाव से पैदा होते हैं ॥ ३०-३३ ॥

नीचे इनके बारे में बताया जाता है—

भाव—जन्म से विकार-रहित मन में विकार के उत्पन्न होने को भाव कहते हैं।

विकार की सामग्री रहते हुए भी विकार का न पैदा होना सत्त्व (भाव) कहलाता है, जैसे—“इसी बीच अप्सराओं ने गायन-वादन आरम्भ कर दिया, पर महादेवजी टस-से-मस न हुए, अपने ध्यान में ही लगे रह गए, क्योंकि जो लोग अपने मन को वश में कर लेते हैं उनकी समाधि क्या भला कोई छुड़ा सकता है!” इस प्रकार के विकार रहित मन में पहले-पहल विकार के पैदा होने से इसका नाम भाव है। मिट्टी और जल के संयोग से बीज के अंकुरित होने को पहले बीज की जो दशा होती है वैसी ही मन की दशा का नाम विकार है। इस प्रकार सर्वप्रथम मन में आए हुए विकार का नाम भाव है—जैसे “दृष्टे सालसतां बिभर्ति” (पृ० १६२ पर इसका अर्थ लिखा जा चुका है।) अथवा जैसे ‘कुमारसम्भव’ में—“कामदेव के पार्वतीजी को छुआ करते देख

जैसे—"शृंगार करने वाली कुलांगना स्त्रियों ने पार्वतीजी को स्नान आदि कराके कोहबर में ले जाकर पूरब की ओर मुँह करके बिठा दिया। शृंगार की सब वस्तुएँ पास में होने पर भी वे सब पार्वतीजी की स्वाभाविक शोभा पर ही इतनी लट्टू हो गईं कि कुछ देर तक तो वे सुधबुध भूलकर उनकी ओर एकटक निहारती हुई बैठी रह गईं।" इत्यादि और जैसे 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में—

महाराज दुष्यन्त शकुन्तला के विषय में कह रहे हैं—

मेरी दृष्टि में उसका रूप वैसा ही पवित्र है जैसा बिना सूँघा फूल, नखों से बिना काटे हुए पत्ते, बिना बिंधा हुआ रत्न, बिना चखा हुआ नया मधु, तथा बिना भोगा हुआ अखण्ड पुण्यों का फल। पर पता नहीं इस रूप के उपभोग करने के लिए ब्रह्मा ने किसे बनाया है।"

मन्मथाप्यायितच्छाया सैव कान्तिरिति स्मृता ॥१५॥

कान्ति—काम के विकार से बढ़ी हुई शरीर की शोभा को कान्ति कहते हैं ॥ १५ ॥

(शोभा ही जब प्रेमाधिक्य से बढ़ जाती है तो उसे कान्ति कहते हैं।) जैसे नायिका के चन्द्र मुख के अभिलाषी अन्धकार ने जब उसके मुख के पास जाने की इच्छा की तो वहाँ से उसे नायिका के मुखचन्द्र की किरणों ने निकाल भगाया। उसके बाद जब वह उसके स्थूल कुचों के पास तथा हाथों के पास डेरा डालने के लिए गया तो वहाँ पर भी कुच और हाथों की कान्ति द्वारा दुत्कारा गया। इस प्रकार हर जगह से तिरस्कृत वह अन्धकार ऐसा लगता है मानो प्रकुपित हो केशों पर ही जाकर चिपक गया हो।

इसी प्रकार कान्ति का उदाहरण बाणभट्ट की 'कादम्बरी' का महाश्वेता वृत्तान्त भी है।

अनुल्बणत्वं माधुर्यं

माधुर्य—जिस गुण के रहने से नायिका हरेक अवस्था में रमणीय मालूम होती है उसे माधुर्य कहते हैं।

जैसे 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में—

"सेवार से घिरे रहने पर भी कमल सुन्दर लगता है और चन्द्रमा में पड़ा हुआ कलंक भी उसकी शोभा को बढ़ाता है वैसे ही यह रमणी वल्कल पहने हुए भी बड़ी सुन्दर लग रही है। वस्तुतः बात यह है कि सुन्दर शरीर पर हरेक वस्तु सुन्दर लगती है।"

दीप्तिः कान्तेरतु विस्तरः ।

दीप्ति—अत्यन्त विस्तार पाने पर कान्ति ही दीप्ति कहलाती है।

जैसे— 'प्रार्थना करती हूँ अरी अपनी मुखचन्द्र की ज्योत्स्ना से अन्धकार को दूर भगाने वाली! प्रसन्न हो जाओ मेरी बात मानकर अब आगे मत बढ़ो। हे हताशिनी तू अन्य अभिसारिकाओं को विघ्न पहुँचा रही है।

निःसाध्वसत्वं प्रागल्भ्यं

प्रागल्भ्य—साध्वस के अभाव को प्रागल्भ्य कहते हैं।

(अर्थात्) मानसिक क्षोभ के साथ अंगों में अवसाद आने का नाम साध्वस है और उसके अभाव को प्रागल्भ्य कहते हैं। जैसे मेरा ही पद्य—

'वह देखने में तो बड़ी लजीली और भोली मालूम पड़ती है पर सभा के अन्दर कला के प्रयोगों के पाण्डित्य में तो उसने आचार्य का स्थान प्राप्त कर लिया है।

औदार्यं प्रश्रयः सदा ॥१६॥

औदार्य—सदा प्रेम के अनुकूल व्यवहार करने का नाम औदार्य है॥१६॥

चापलाविहता धैर्यं चिद्वृत्तिरविकत्थना ।

धैर्य—आत्मश्लाघा और चापल्य-रहित मन की वृत्ति को धैर्य कहते हैं।

जैसे 'मालतीमाधव' में निम्नलिखित पद्य में मालती की उक्ति है—

"प्रतिपत्ति मम मे चन्द्र पूरन हृदय बढ़ तापत रहै ।
अब मृत्यु सों आगे करै कहा मरन चाहै नित यहै ॥
मम इष्ट पावन परम पितु श्री मातु तुम की मान है ।
तिहि त्यागि बस चाहिए न मोहि प्रानेस को यह मान है ॥

प्रियानुकरणं लीला मधुराङ्गविचेष्टितैः ॥३७॥

लीला—नायिका द्वारा प्रियतम के शृङ्गारिक चेष्टाओं वेशभूषा बातचीत आदि के अनुकरण किए जाने का नाम लीला है ॥३७॥

जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य—

"उसका देखना बोलना बैठना आदि सब ठीक उसी प्रकार करती है जैसे उसने प्रियतम का देखना बोलना आदि उसकी सखियों की साथ होता है। अथवा जैसे—"उसका कहना बोलना खाना वैसा ही होता है जैसा इसका आदि।"

तात्कालिको विशेषस्तु विलासोऽङ्गक्रियादिषु ।

विलास—प्रियतम के अवलोकन आदि के समय नायिकाओं की आकृति नैन तथा चेष्टाओं में जो विशेषता आ जाती है उसे विलास कहते हैं ।

जैसे 'मालतीमाधव' में माधव मालती के विषय में कहता है—

'इतने ही में जो कछु बाने करयो
कहिबे नहिं बैननि मैं चतुराई ।
जय सीस प्रनय विलासिन को
प्रगटाइ छटा चहुँधा छिटकाई ॥
बहु सात्त्विक भाव लगी मिल भावके
एती अधीर अवाई दिखाई ।
यह बात बड़ी-बड़ी आँखिनि की
मनु मैनु महीप मैं आनु पठाई ॥

विच्छित्ति—अल्प वेश-विन्यास के होते हुए भी नायिका के अंगों में अधिक कमनीयता के आ जाने का नाम विच्छित्ति है ।

आकस्मिकस्मात्स्यापि विच्छित्तिः कान्तिपोषकृत् ॥३८॥

अर्थात् कान्ति जिससे अधिक चमत्कृत हो उठती है उसको विच्छित्ति कहते हैं ॥३८॥

जैसे 'कुमारसम्भव' में— 'पार्वतीजी के कानों पर लटके हुए जौ के अङ्कुर तथा लोध से पुते तथा गोरोचना लगे हुए गोरे-गोरे गाल इतने सुन्दर लगने लगे कि सबकी आँखें हठात् उनकी ओर खिंच जाती थीं।

विभ्रमस्त्वरया काले भूषास्थानविपर्ययः ।

विभ्रम—शीघ्रतावश आभूषणों को जहाँ पहनना चाहिए वहाँ न पहनकर अन्यत्र पहन लेना इस प्रकार के आचरण को विभ्रम कहते हैं।

जैसे— रात हो आई चन्द्रमा निकल आया यह देख नायिका ने शीघ्रतावश प्रिय से मिलने के लिए आभूषणों को पहनना आरम्भ कर दिया। इधर यह गहना पहन रही थी और उधर इसकी सखियाँ इसके प्रिय की दूती से बातचीत करने म लगी थी सो प्रिय की बातों को सुनने के लिए इसने भी अपने मन और आँखों को उधर ही लगा दिया निदान जो आभूषण जहाँ पहनना चाहिए था उसे वहाँ न पहनकर अन्यत्र ही पहन बैठी यह देख उसकी सखियाँ हँस पड़ी।"

अथवा जैसा मेरा (धनिक का) ही पद्य— 'नायिका आभूषणों से अपने अंगों को सजा ही रही थी कि इतने में उसने सुना कि उसका प्रिय द्वार बाहर आ गया है। बस क्या था शीघ्र ही सज-धजकर तैयार हो गई। इस पर जल्दी करने का परिणाम यह निकला कि उसने भाल में अञ्जन आँखों मे महावर और कपोलों पर तिलक कर लिया।

क्रोधाश्रुहर्षभीत्यादेः संकरः किलकिञ्चितम् ॥३९॥

किलकिञ्चित—उस अवस्था को कहते हैं जिसमें नायक के सम्पर्क से नायिका के अन्दर क्रोध अश्रु, हर्ष भय ये चारों मिले हुए पैदा होते हैं।३९।

जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य—

नायक अपने मित्र से कहता है—"रतिक्रीडा रूपी द्यूत में मैंने किसी

सुकुमाराङ्गविन्यासो मसृणो ललितं भवेत् ॥४१॥

ललित—कोमल अंगों को सुकुमारता के साथ रखने का नाम ललित है ॥४१॥

जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य—

'उसका भौंहों को नचाकर किसलय सदृश अँगुलियों का इधर उधर घुमाकर बोलना और लोचन के अंचलों से अति मधुर देखना तथा स्वच्छन्दता से साथ जाते हुए कमलवत् चरणों का रखना आदि देखकर ऐसा प्रतीत होता है, मानो यह कमलनयनी बढ़ती हुई जवानी के द्वारा बिना संगीत के ही नचाई जा रही है।

प्राप्तकालं न यद् ब्रूयाद् व्रीडया विहृतं हि तत्।

विहृत—उपयुक्त अवसर के पाने पर भी लज्जा के कारण न बोल सकने का नाम विहृत है।

जैसे—

"पतला सुन्दर कान्तिवाले पैर के अँगूठे से धरती को कोरती हुई और उसी बहाने कालिमा से चित्रित अपने चंचल नेत्रों को मेरे ऊपर फेंकती हुई, लज्जा से नम्र मुखवाली तथा बोलने की चाह से फड़कते हुए अधरोंवाली प्रियतमा सामने खड़ी होते हुए भी लज्जा के कारण जो-कुछ न बोल सकी ये सब बातें स्मृति-पथ में आते ही हृदय को कुरेदने लगती हैं।"

इसके बाद नेता के अन्य कार्य-सहायकों को बताते हैं—

मन्त्री स्वं वोभयं वापि सखा तस्यार्थचिन्तने ॥४२॥

अपने राष्ट्र तथा अन्य राष्ट्र की देखभाल आदि कामों में राजा के सहायक मन्त्री हुआ करते हैं। कहीं राजा स्वयं अकेले कार्यभार वहन करता है। कहीं राजा और मन्त्री दोनों तथा कहीं मन्त्री ही ॥४२॥

मन्त्रिणा ललितः शेषा मन्त्रिस्वायत्तसिद्धयः।

ऊपर बताये हुए नायकों में से धीरललित नायक अर्थसिद्धि के लिए

मन्त्रियों पर अवलम्बित रहा करता है। अन्य नायकों (धीरोदात्त और शान्त और धीरोद्धत) में कहीं राजा कहीं मन्त्री और कहीं दोनों कार्य भार को वहन करते हैं।

इनके लिए (धीरोदात्त धीरशान्त धीरोद्धत के लिए) कोई खास नियम नहीं है कि अमुक नायक का सहायक मन्त्री हो अथवा स्वयं हो अथवा आप भी हो और मन्त्री भी।

ऋत्विक्पुरोहितौ धर्मे तपस्विब्रह्मवादिनः ॥४३॥

राजा के धार्मिक कार्यों में सहायता पहुँचाने वाले ऋत्विक्, पुरोहित तपस्वी और ब्रह्मज्ञानी हुआ करते हैं।

वेद के पठन-पाठन करनेवाले और उनके व्याख्याता को ब्रह्मज्ञानी कहते हैं। पुरोहित आदि के अर्थ बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि इनके अर्थ तो स्पष्ट ही हैं।

दुष्टों के दमन करने को दण्ड कहते हैं।

सुहृत्कुमाराटविका दण्डे सामन्तसैनिकाः।

राजा के दण्डकार्यों में सहायता पहुँचानेवाले मित्र कुमार आटविक (सीमारक्षक) सामन्त और सैनिक होते हैं।

ये प्रत्येक अपने-अपने अनुकूल कार्यों में लगाए जाते हैं अर्थात् जो जिस कार्य के योग्य होता है वह उस कार्य में राजा की सहायता पहुँचाया करता है। जैसा कहा भी है—

अन्तःपुरे वर्षवराः किराता मूकवामनाः ॥४४॥

म्लेच्छाभीरशकाराद्याः स्वस्वकार्योपयोगिनः।

अन्तःपुर में क्लीव (नपुंसक) किरात गूंगा बौना म्लेच्छ, अहीर शकार के सब सेवा करने के लिए रहते हैं। इनमें जो जिस कार्य के उपयुक्त होता है उसे वह काम करने को दिया जाता है ॥४४॥

शकार राजा का साला हुआ करता है। यह निम्न जाति का हुआ करता है। (यह राजा के निम्नजातिवाली पत्नी का भाई होता है।)

है। और जब तुम्हारा वर्धन आरम्भ हो जाता है तो फिर क्या कहना? इस चौड़ी पीठ और मोटे स्तनों वाली के सब प्रत्यंगों में मरोड़ पैदा हो जाती है जँभाई आने लगती है और भुजाएँ वलयित हो जाती हैं। (दोनों हाथों के द्वारा अपने सीने को कसना यहाँ वलयित शब्द से अभिप्रेत है।)

सातस्वान्त: कुट्टमितं कुप्येत् केशाधरग्रहे ॥४०॥

कुट्टमित—सम्भोग में प्रवृत्त होते समय केशग्रहण और अधरपान के कारण भीतर से प्रसन्न होते हुए भी ऊपर से नायिकाओं द्वारा जो कोप का प्रदर्शन होता है उसे कुट्टमित कहते हैं ॥ ४० ॥

जैसे—

'हाथों के अग्रभाग अर्थात् अँगुलियों से रोके जाते रहने पर भी प्रियतम के द्वारा ओठों के काट लिए जाने से झूठमूठ का रुदन और सीत्कार करने वाली नायिकाओं की जय होवे जिनका इस प्रकार का सीत्कार रतिरूपी नाटक के विभ्रम का नान्दी पाठ है अथवा कामदेव का महत्वपूर्ण आदेश है।"

गर्वाभिमानादिष्टेऽपि बिब्बोकोऽनादरक्रिया।

बिब्बोक—गर्व और अभिमान से इच्छित वस्तु के अनादर करने को बिब्बोक कहते हैं।

जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य—

मैंने भौंहों को तानकर अनादर के साथ प्रियतम को जो देखा और इस प्रकार से जो उसकी अवहेलना कर दी इसका परिणाम यह हुआ कि मेरा भी मनोरथ चरितार्थ न हो सका। अरी मैंने भी हद कर डाली। केवल भौंहों का तरेरना ही किया होता सो भी नहीं। मैंने बहाने से क्रोध के आवेग में तिलक और बेंदी को हाथों से बिखेर दिया और आवावेग में अनेक बार अपनी नीली साड़ी के आँचल को स्तनों पर से उठाया और रखा।"

मन्त्रियों पर अवलम्बित रहा करता है। अन्य नायकों (धीरोदात्त धीर शान्त और धीरोद्धत) में कहीं राजा कहीं मन्त्री और कहीं दोनों कार्य भार को वहन करते हैं।

इनके लिए (धीरोदात्त धीरशान्त धीरोद्धत के लिए) कोई खास नियम नहीं है कि अमुक नायक का सहायक मन्त्री हो अथवा स्वयं हो अथवा आप भी हो और मन्त्री भी।

ऋत्विक्पुरोहितौ धर्मे तपस्विब्रह्मवादिनः ॥४३॥

राजा के धार्मिक कार्यों मे सहायता पहुँचाने वाले ऋत्विक पुरोहित तपस्वी और ब्रह्मज्ञानी हुआ करते हैं।

वेद के पठन-पाठन करनेवाले और उसके व्याख्याता को ब्रह्मज्ञानी कहते हैं। पुरोहित आदि के अर्थ बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि इनके अर्थ तो स्पष्ट ही हैं।

दुष्टों के दमन करने को दण्ड कहते हैं।

सुहृत्कुमाराटविका दण्डे सामन्तसैनिकाः ।

राजा के दण्डकार्यों मे सहायता पहुँचानेवाले मित्र कुमार आटविक (सीमारक्षक) सामन्त और सैनिक होते हैं।

ये प्रत्येक अपने-अपने अनुरूप कार्यों में लगाए जाते हैं अर्थात् जो जिस कार्य के योग्य होता है वह उस कार्य में राजा की सहायता पहुँचाया करता है। जैसा कहा भी है—

अन्तःपुरे वर्षवराः किराता मूकवामनाः ॥४४॥

म्लेच्छाभीरशकाराद्याः स्वस्वकार्योपयोगिनः ।

अन्तःपुर में वर्षवर (नपुंसक) किरात गूँगा बौना, म्लेच्छ अहीर शकार ये सब सेवा करने के लिए रहते हैं। इनमें जो जिस कार्य के उपयुक्त होता है उसे वह कार्य करने को दिया जाता है ॥४४॥

शकार राजा का साला हुआ करता है। वह निम्न जाति का हुआ करता है। (यह राजा के नि म्नजातीय रानी का भाई होता है)

ज्येष्ठमध्याधमत्वेन सर्वेषां च त्रिरूपता ॥४५॥

तारतम्याद्यथोक्तानां गुणानां चोत्तमादिता ।

एवं नाट्ये विधातव्यो नायकः सपरिच्छदः ॥४६॥

पहले बताये हुए नायक-नायिका दूत-दूती, पुरोहित मन्त्री आदि के उत्तम मध्यम और अधम इनके द्वारा प्रत्येक के तीन-तीन भेद होते हैं। यह जो उत्तम मध्यम और अधम भेद है यह गुणों की घटती-बढ़ती को ध्यान में रखकर नहीं किया गया है, किन्तु गुणाधिक्य को ध्यान में रखकर किया गया है ॥४५ ४६॥

अब ऊपर बताये हुए नायक के व्यवहारों को बताते हैं—

तद्व्यापारात्मिका वृत्तिश्चतुर्धा तत्र कैशिकी ।

नायक और नायिका के व्यवहार को वृत्ति कहते हैं। यह चार प्रकार की होती है—१ कैशिकी २ सात्वती ३ आरभटी और ४ भारती।

गीतनृत्यविलासाद्यैर्मृदुः शृङ्गारचेष्टितैः ॥४७॥

कैशिकी वृत्ति—कैशिकी वृत्ति उसे कहते हैं जिसमें नायक-नायिका का व्यवहार गीत नृत्य विलास तथा शृङ्गारिक चेष्टाओं (काम की इच्छा से युक्त चेष्टाओं) के द्वारा सुकुमारता को प्राप्त हुआ रहता है ॥४७॥

नर्मतत्स्फूर्जतत्स्फोटतद्गर्भैश्चतुरङ्गिका ।

वैदग्ध्यक्रीडितं नर्म प्रियोपच्छन्दनात्मकम् ॥४८॥

कैशिकी के चार भेद होते हैं—१ नर्म २ नर्म स्फिञ्ज, ३ नर्म स्फोट और ४ नर्म-गर्भ।

१ नर्म—प्रिय को प्रसन्न करने वाली चातुर्य से युक्त क्रीडा को नर्म कहते हैं। इसके तीन भेद होते हैं—१ हास्य नर्म २ सहास्य शृङ्गार नर्म और ३ सहास्य भय नर्म। इसमें सहास्य शृङ्गार नर्म के भी तीन भेद होते हैं—१ आत्मोपक्षेप नर्म २ सम्भोग नर्म और

१ मान नर्म। सहास्य भय नर्म के भी दो भेद होते हैं—१ शुद्धभय नर्म और २ शृंगारान्तर्गत भय नर्म।

हास्येनैव सशृङ्गारभयेन विहितं त्रिधा ।

भय नाम का सहास्य भय नर्म के भी शुद्ध और शृंगारान्तर्गत भय नर्म ये दो भेद होते हैं।

आत्मोपक्षेपसम्भोगमानैः शृङ्गार्यपि त्रिधा ॥४९॥

फिर ये वाणी, वाग्वेष और चेष्टा इनके द्वारा तीन-तीन प्रकार के होते हैं।

शुद्धमङ्गं भयं द्वेधा त्रेधा वाग्वेषचेष्टितैः ।
सर्वं सहास्यमित्येवं नर्माष्टादशधोदितम् ॥५०॥

इस प्रकार सब मिलाकर कुल १८ भेद होते हैं ॥४९ ५०॥

नर्म की वृत्ति—प्रियजन को प्रसन्न करने के लिए किये गए परिहास का नाम नर्म है। इसमें ग्राम्य परिहास का होना निषिद्ध है। यह १ शुद्ध हास्य २ सहास शृंगार और सहास भय इनके द्वारा तीन प्रकार का होता है। इसमें दूसरे का स्वानुराग निवेदन (अपने प्रेम को बतलाना) सम्भोगेच्छा प्रकाशन (अपनी सम्भोग की इच्छा को व्यक्त करना) सापराध प्रिय प्रतिभेदन (अपराध करके आये हुए नायक का भण्डाफोड़ करना) इन भेदों से तीन प्रकार का होता है।

इसमें वाणी द्वारा उत्पन्न हास्यनर्म का उदाहरण— पार्वतीजी के चरणों में लाली लगाकर सखी जब लगा चुकी तब उसने ठिठोली करते हुए आशीर्वाद दिया कि भगवान् करे इन पैरों से अपने पति के सिर की चन्द्र कला को छुओ। इस पर पार्वतीजी मुँह से कुछ न बोलीं पर एक माला उठाकर (धीरे से) उसकी पीठ पर जड़ दी।

वेषनर्म का उदाहरण 'नागानन्द' नाटक में विदूषक शेखरक की वेष भूषा आदि का वर्णन।

क्रियानर्म का उदाहरण— 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में स्वप्न देखते

बसत न यह मति ही मनभाव ।
देह न करति वृष्टि सुसमा की सूनी दृष्टि लखात ॥
भिल्लागुर सो श्वास भरत छिन-छिन दूनी दरसावै ।
कारन का यहि के सिवाय कछु और समझ नहिं आवै ॥
मनसरही फिरि भुवन भुवन मे मनमथ विजय दुहाई ।
जोर मरोर भरी जोवन नदि महि तन म उमगाई ॥
प्रकृति मधुर रमनीय भाव जब जोवन ज्योति प्रकासै ।
बरबस मन बस करत धीरता धीरज हू की नासै ॥

यहाँ पर माधव के मदन आदि से प्रकट होने वाले थोड़े भावों से मालती के विषय में उसका अनुराग थोड़ी मात्रा में सूचित होता है ।

नर्मगर्भ—

छन्ननेतृप्रतीचारो नर्मगर्भोऽर्थहेतवे ।
अङ्गं सहास्यनिर्हास्यैरेभिरेषात्र कैशिकी ॥५२॥

कार्यसिद्धि के लिए नायक के गुप्त व्यवहार को नर्मगर्भ कहते हैं। यह कैशिकी वृत्ति का अन्तिम चौथा भेद है। इसके भी दो भेद होते हैं—सहास्य और निर्हास्य ॥ ५२ ॥

जैसे अमरुशतक में—एक आसन पर अपनी दोनों प्रेमिकाओं को बैठा देख खेलक्रीडा के बहाने पीछे से आकर नायक एक की आँख मूँदकर अपने कन्धे को जरा मोड़कर प्रेम से उल्लसित मनवाली तथा आनन्द से विकसित मुखवाली अपनी दूसरी नायिका को आनन्द से चूम रहा है ।

और जैसे 'प्रियदर्शिका' के गर्भाङ्क में वत्सराज का वेष धारण करके आई हुई सुसंगता के स्थान पर पास ही में स्वयं वत्सराज का आ जाना ।

सात्वती—

विशोका सात्त्वती सत्त्वशौर्यत्यागदयार्जवैः ।
संलापोत्थापकावस्याः साङ्घात्यः परिवर्तकः ॥५३॥

नायक के शोकरहित सत्त्व शौर्य क्षमा त्याग और आर्जवयुक्त व्यापार को सात्त्वती वृत्ति कहते हैं। इसके संलापक, उत्थापक सांघात्य और परिवर्तक, ये चार भेद होते हैं ॥५३॥

संलापको गम्भीरोक्तिर्नानाभावरसा मिथः ।

संलापक—नाना प्रकार के भाव और रसों से युक्त गम्भीर उक्ति को संलापक कहते हैं।

जैसे राम 'महावीरचरित' नाटक में परशुराम से कहते हैं—

निश्चय ही यह वह फरसा है जो सपरिवार कार्तिकेय के जीते जाने पर भगवान् शंकर के द्वारा हजार वर्ष तक शिष्य बने हुए आपको प्रसाद रूप में दिया गया था।

यह सुनकर परशुराम बोलते हैं—

हे राम तुम्हारा कथन सत्य है यह मेरे गुरुदेव शंकर का प्यारा वही परशु है।

"शस्त्र-परीक्षा के दिन बनावटी युद्ध में गणों से घिरे हुए कुमार कार्तिकेय को मैंने हराया इससे प्रसन्न हो गुणों के प्रेमी भगवान् शंकर ने प्रसाद रूप में इसे मुझे प्रदान किया। इत्यादि। नाना प्रकार के भावों और रसों में युक्त राम और परशुराम की गम्भीर युक्ति-प्रयुक्ति संलापक है।

उत्थापक—

उत्थापकस्तु यत्रादौ युद्धायोत्थापयेत् परम् ॥५४॥

युद्ध के लिए जहाँ नायक शत्रु को ललकारे ऐसे स्थल पर उत्थापक होता है। अर्थात् नायक के द्वारा युद्ध के लिए शत्रु के ललकारने को उत्थापक कहते हैं ॥ ५४ ॥

जैसे 'महावीरचरित' में परशुराम रामचन्द्र से कह रहे हैं—

हे राम तेरा दर्शन मेरे लिए आनन्दप्रद हुआ अथवा आश्चर्योत्पादक हुआ था [illegible] देने के लिए क्या कुछ समझ में नहीं आ रहा

है। पता नहीं क्यों मेरे ऐसे नीरस के नेत्रों में भी तुझे देखते रहने की इस प्रकार की उत्कट तृष्णा पैदा हो गई है ! और मेरी तकदीर में तेरी संगति का सुख नहीं बदा है अतः प्रसिद्ध पराक्रमी परशुराम के जीतने के लिए तेरी भुजाओं में मेरा यह अनुप प्रेरणा संचार करे।

संफेट—

मन्त्रार्थदैवशक्त्यादेः साहाय्यं संफेटमम्।

मंत्र धन या दैवी शक्ति के सहारे किसी संफेटना में फूट पैदा कर देने का नाम संफेट्य है।

मन्त्र-शक्ति द्वारा फूट पैदा करना जैसे—

'मुद्राराक्षस' नाटक में चाणक्य का अपनी बुद्धि के द्वारा राक्षस के मित्रों में फूट पैदा कर देना।

अर्थशक्ति जैसे—वही पर (मुद्राराक्षस नाटक में) पर्वत के आभूषण को राक्षस के हाथ में पहुँचाकर मलयकेतु के साथ फूट पैदा करा देना।

दैव-शक्ति का उदाहरण—रामायण में राम का रावण से विभीषण को तोड़ लेना।

प्रारब्धोत्थानकार्यान्यकरणात् परिवर्तकः ॥५५॥

परिवर्तक—प्रारम्भ किये हुए कार्य को छोड़ दूसरे कार्य के आरम्भ कर देने को परिवर्तक कहते हैं ॥ ५५ ॥

जैसे 'महावीरचरित' में—परशुराम कहते हैं कि "हे राम गणेश के मूसल के समान दाँतो से चिह्नित तथा स्वामी कार्तिकेय के तीक्ष्ण शरों के प्रहार के व्रण से सुशोभित मेरी छाती तेरे जैसे अद्भुत पराक्रमशाली के मिलने से रोमांचित हुई (तेरा) आलिंगन चाहती है। यह सुनकर राम कहते हैं—

"भगवन्! आलिंगन तो प्रस्तुत व्यापार (युद्ध) के विरुद्ध है। इत्यादि। आरभटी के बाद भारती वृत्ति को बताते हैं—

इस वृत्ति में माया इन्द्रजाल संग्राम क्रोध उद्भ्रान्ति प्रस्ताव आदि बातें होती हैं।

एभिरङ्गैश्चतुर्थेयं सात्वत्यारभटी पुनः ।

मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः ॥५६॥

संक्षिप्तिका स्यात्संफेटो वस्तूत्थानावपातने ।

अवास्तविक वस्तु को मन्त्र के बल से दिखलाने आदि को माया कहते हैं। इसके चार भेद होते हैं—१ संक्षिप्ति २ संफेट, ३ वस्तूत्थापन और ४ अवपात ॥ ५६ ॥

संक्षिप्ति—

संक्षिप्तवस्तुरचना संक्षिप्तिः शिल्पयोगतः ॥५७॥

पूर्वनेतृनिवृत्त्यान्ये नेत्रन्तरपरिग्रहः ।

शिल्प के योग से संक्षिप्त वस्तु-रचना को संक्षिप्ति कहते हैं। कुछ लोगों के मत में प्रथम नायक के चले जाने पर उसके स्थान पर दूसरे नायक का आ जाना संक्षिप्ति है ॥ ५७ ॥

मिट्टी बाँस पत्तों और चमड़े आदि के द्वारा वस्तु का उत्थापन अर्थात् वस्तु के तैयार हो जाने का नाम संक्षिप्ति है। इसका उदाहरण है बाँस का बना हाथी।

दूसरे लोग नायक की एक अवस्था के बाद दूसरी अवस्था के आने को संक्षिप्ति बतलाते हैं।[1] जो लोग प्रथम नायक के चले जाने पर उसके स्थान पर दूसरे नायक का आना संक्षिप्ति की परिभाषा बताते हैं उनके अनुसार इसका उदाहरण है बालि का निधन हो जाने पर सुग्रीव का

१ ग्रन्थकार धनञ्जय का मत पहला है और वृत्तिकार धनिक का दूसरा है अर्थात् एक नायक के बाद दूसरे नायक का आना संक्षिप्ति है यह ग्रन्थकार धनञ्जय का मत है। और एक अवस्था के बाद दूसरी अवस्था का आना वृत्तिकार धनिक का मत है।

नायक बनना। और जो लोग एक अवस्था की निवृत्ति के बाद दूसरी अवस्था में आने का नाम अधिबल बताते हैं उनके अनुसार इसका उदाहरण है—'महावीरचरित' में परशुराम का उद्धतता को त्यागकर शान्तभाव का ग्रहण करना।

संफेटस्तु समाघातः क्रुद्धसंरब्धयोर्द्वयोः ॥५८॥

संफेट—दो क्रुद्ध व्यक्तियों में एक की दूसरे के प्रति जो गाली-गलौज होती है उसे संफेट कहते हैं।

जैसे 'मालतीमाधव' में माधव और अघोरघण्ट का और रामायण में वर्णित चरितों में से लक्ष्मण और मेघनाद का आपसी वाग्युद्ध आदि ॥ ५८ ॥

वस्तूत्थापन—

मायाद्युत्थापितं वस्तु वस्तूत्थापनमिष्यते।

माया आदि से उत्पन्न वस्तु को वस्तूत्थापन कहते हैं।

जैसे 'उदात्त राघव' नाटक में—

'छिपती होने हुए भी चमकती हुई सूर्य की सम्पूर्ण किरण पता नहीं कहाँ आकाशव्यापी अति सघन अन्धकार के द्वारा पराजित हो गयी है। दूसरी तरफ भयानक कबन्धों के पैरों से निकले हुए रक्त को पी पी कर पेट भर जाने से डकारने वाली और अपनी मुखरूप कन्दरा से आग उगलनेवाली सियारिनों का भयंकर क्रन्दन हो रहा है।

अवपातस्तु निष्क्रामप्रवेशत्रासविद्रवैः ॥५९॥

अवपात—निकलना, प्रवेश करना, भय करना और भागना ये अवपात के भीतर गाये जाते हैं ॥ ५९ ॥

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में पाकशाला के बन्धन को तोड़कर बन्दर रनिवास में प्रवेश कर रहा है। उसके गले में सोने की टूटी हुई जंजीर पड़ी हुई है। वह उसे नीचे की तरफ खींचता हुआ भाग रहा है। वह अपनी चपल जाति के अनुरूप सब स्त्रियों (कुब्जा, बौना आदि)

की तरह देवर से भी सम्बोधित की जाएँ ॥ ६९ ॥

एक स्त्री दूसरे को क्या कहकर बुलाती है इस बात को बताते हैं—

आमन्त्रणैश्च पतिवज्ज्येष्ठमध्याधम स्त्रियः ।
समा हलेति प्रेष्या च हञ्जे वेश्याऽज्जुका तथा ॥७० ॥
कुट्टिन्यम्बेत्यनुगतैः पूज्या वा जरती जनैः ।
विदूषकेण भवती राज्ञी चेटीति शब्द्यते ॥७१॥

अपनी सहेलियों को हला प्रेष्या को हञ्जे वेश्या को अज्जुका कह कर पुकारे। कुट्टिनी अम्बा पूज्या और जरती इन शब्दों से पुकारी जाएँ। विदूषक रानी और चेटी दोनों को 'भवती' शब्द से बुलावे ॥ ७०-७१ ॥

चेष्टागुणोदाहृतिसत्त्वभावानशेषतो नेतृदशाविभिन्नान् ।
को वक्तुमीशो भरतो न यो वा यो वा न
देवः शशिखण्डमौलिः ॥७२॥

आचार्य भरत और भगवान् शंकर के अलावा ऐसा कौन होगा जो चेष्टा, गुण, सात्त्विक भाव और अपरिमित नायक और नायिकाओं की विभिन्न दशाओं का वर्णन करने में समर्थ हो सके ? अर्थात् इनके वर्णन में भगवान् शंकर और आचार्य भरत के अलावा कोई भी समर्थ नहीं ॥७२॥

॥ धनञ्जय के दशरूपक का द्वितीय प्रकाश समाप्त ॥

कहने का तात्पर्य यह है कि संक्षेप में केवल एक रास्ता-भर दिखला दिया गया है। अगर कोई चाहे तो अपना और भी विस्तार कर सकता है। लीला आदि का चेष्टा शब्द है विनय आदि को गुण कहते हैं। उदाहरण का अर्थ होता है संस्कृत और प्राकृत में बोलना। सत्त्व विकार रहित मन को कहते हैं। सात्त्विक भाव मन की प्रथम विकृत अवस्था को कहते हैं। इसी के द्वारा हाव आदि का उद्भव होता है।

॥ विष्णु के पुत्र धनिक के दशरूपावलोक व्याख्या का नेतृ प्रकाश नाम का द्वितीय प्रकाश समाप्त ॥

वृत्ति मानना युक्तिसंगत है ॥ ६१ ॥

कौन वृत्ति किस रस में रहती है इस बात को बताते हैं—

शृङ्गारे कैशिकी वीरे सात्वत्यारभटी पुनः ।

रसे रौद्रे च बीभत्से वृत्तिः सर्वत्र भारती ॥६२॥

कैशिकी वृत्ति शृंगार रस में सात्वती वीर रस में आरभटी रौद्र और बीभत्स रस में तथा भारती वृत्ति सर्वत्र रहती है ॥ ६२ ॥

देशभाषाक्रियावेषलक्षणाः स्युः प्रवृत्तयः ।

लोकादेवावगम्यता यथौचित्यं प्रयोजयेत् ॥६३॥

नायक आदि देश के भिन्न होने से भिन्न वेष आदि में प्रवृत्त होते हैं। अर्थात् जिस देश के नायक आदि होंगे उसी देश की भाषा और वेष धारण करेंगे। नाट्य जिस देश के नायक आदि का अभिनय करता है उसी देश की भाषा वेष क्रिया आदि का व्यवहार करता है। नाट्य को लौकिक व्यवहार आदि ज्ञान के द्वारा इस बात की जानकारी प्राप्त कर जहाँ जैसा उचित हो वहाँ वैसा करना चाहिए ॥ ६३ ॥

पाठ्यं तु संस्कृतं नृणामनीचानां कृतात्मनाम् ।

लिङ्गिनीनां महादेव्या मन्त्रिजावेश्ययोः क्वचित् ॥६४॥

स्त्रीणां तु प्राकृतं प्रायः शौरसेन्यधमेषु च ।

कौन पात्र किस भाषा का प्रयोग करे अब इस बात को बताते हैं—श्रेष्ठ पुरुष महात्मा ब्रह्मचारी संस्कृत भाषा का प्रयोग करें। कहीं-कहीं महारानी मन्त्री की लड़की और वेश्या भी संस्कृत में बोल सकती हैं। स्त्रियों को प्राकृत में ही बोलना चाहिए। अधम लोगों के लिए शौरसेनी भाषा उपयुक्त है ॥ ६४ ॥

प्रकृति कहते हैं संस्कृत को अतः उससे पैदा होने के कारण देशी भाषाओं को प्राकृत कहते हैं। शौरसेनी और मागधी अपने स्थान पर ही होती हैं। अर्थात् शौरसेनी मध्यम और मागधी अधम लोगों को बोलनी चाहिए।

पिशाचात्यन्तनीचादौ पैशाचं मागधं तथा ॥६५॥
यद्देशं नीचपात्रं यत्तद्देशं तस्य भाषितम् ।
कार्यतश्चोत्तमादीनां कार्यो भाषाव्यतिक्रमः ॥६६॥

पिशाचों को पैशाची तथा अत्यन्त निम्नवर्ग के लोगों को मागधी बोलनी चाहिए। जिस देश का वह नीच पात्र हो उसको उसी देश की भाषा बोलनी चाहिए। कार्य आदि की दृष्टि से उत्तम लोगों की भाषा में भी व्यतिक्रम हो सकता है ॥ ६५-६६ ॥

बुलानेवाले तथा बोलनेवाले के औचित्य का ध्यान रखकर बुलाने की बात या कौन किस किस शब्द से सम्बोधित करे यह बात बताते हैं—

भगवन्तो वरैर्वाच्या विद्वद्देवर्षिलिङ्गिनः ।
विप्रामात्याग्रजाश्चार्या नटीसूत्रभृतौ मिथः ॥६७॥
रथी सूतेन चायुष्मान् पूज्यैः शिष्यात्मजानुजाः ।
वत्सेति तातः पूज्योऽपि सुगृहीताभिधस्तु सः ॥६८॥

सज्जन लोग विद्वान्, देव ऋषि ब्रह्मचारी इन लोगों को 'भगवन्' कहके बुलायें और ब्राह्मण मन्त्री तथा बड़े भाई को 'आर्य' कहके पुकारें। नटी और सूत्रधार आपस में एक-दूसरे को 'आर्य' कहके बुलावें। रथ हाँकनेवाला रथ पर चढ़े व्यक्ति को 'आयुष्मान्' कहके सम्बोधित करे। पूज्य लोग शिष्य पुत्र छोटे भाई इनको वत्स और तात इन दोनों शब्दों में से किसी से पुकारें। और पूज्य लोग भी शिष्य आदि के द्वारा 'तात' 'सुगृहीतनामा' इन शब्दों से पुकारे जायें। पारिपार्श्विक सूत्रधार को भाव और सूत्रधार उसे मार्ष कहके पुकारे ॥ ६७-६८ ॥

भावोऽनुगेन सूत्री च मार्षेत्येतेन सोऽपि च ।
देवः स्वामीति नृपतिर्भृत्यैर्भट्टेति चाधमैः ॥६९॥

भृत्य राजा को देव और स्वामी कहें और अधम जन भट्ट कहें। नायक अपनी नायिकाओं को ज्येष्ठा, मध्यमा और अधमा को जैसा बुलाता हो वैसा ही बुलावे। विद्वान् और देवता आदि की स्त्रियाँ पति

की तरह देवर से भी सम्बोधित की जाएँ ॥ ६९ ॥

एक स्त्री दूसरे को क्या कहकर बुलाती है इस बात को बताते हैं—

आमन्त्रणीयाः पतिवज्ज्येष्ठमध्याधमैः स्त्रियः ।
समा हलेति प्रेष्या च हञ्जे वेश्याऽज्जुका तथा ॥७० ॥
कुट्टिन्यम्बेत्यनुगतैः पूज्या वा जरती जनैः ।
विदूषकेण भवती राज्ञी चेटीति शब्द्यते ॥७१॥

अपनी सहेलियों को हला प्रेष्या को हञ्जे वेश्या को अज्जुका कह कर पुकारे। कुट्टिनी अम्बा पूज्या और जरती इन शब्दों से पुकारी जाएँ। विदूषक रानी और चेटी दोनों को 'भवती' शब्द से बुलावे ॥ ७०-७१ ॥

चेष्टागुणोदाहृतिसत्त्वभावानशेषतो नेतृदशाविभिन्नान् ।
को वक्तुमीशो भरतो न यो वा यो वा न
देवः शशिखण्डमौलिः ॥७२॥

आचार्य भरत और भगवान् शंकर के अलावा ऐसा कौन होगा जो चेष्टा गुण सात्त्विक भाव और अपरिमित नायक और नायिकाओं की विभिन्न दशाओं का वर्णन करने में समर्थ हो सके? अर्थात् इनके वर्णन में भगवान् शंकर और आचार्य भरत के अलावा कोई भी समर्थ नहीं ॥७२॥

॥ धनञ्जय के दशरूपक का द्वितीय प्रकाश समाप्त ॥

कहने का तात्पर्य यह है कि संक्षेप में केवल एक रास्ता-भर दिखला दिया गया है। अगर कोई चाहे तो इसका और भी विस्तार कर सकता है। लीला आदि को चेष्टा कहते हैं विनय आदि को गुण कहते हैं। उदाहरण का अर्थ होता है संस्कृत और प्राकृत में बोलना। सत्त्व विकार रहित मन को कहते हैं। सात्त्विक भाव मन की प्रथम विकृत अवस्था को कहते हैं। इसी के द्वारा हाव आदि का ग्रहण होता है।

॥ विष्णु के पुत्र धनिक के दशरूपावलोक व्याख्या का नेतृ प्रकाश नाम का द्वितीय प्रकाश समाप्त ॥

पूर्वरंग कहते हैं। इसमें नाट्यशाला की रचना आदि से लेकर देवस्तुति आदि सभी बातें आ जाती हैं।]

वृत्तिकार धनिक का कहना है कि पूर्वरंग तो हुई नाट्यशाला और उसमें होनेवाला प्रथम जो प्रयोग है उसके प्रारम्भ को पूर्वरंगता कहते हैं। उसी पूर्वरंगता का सम्पादन कर सूत्रधार के चले जाने के बाद उसके ही सदृश वैष्णव वेषधारी कोई दूसरा नट प्रवेश कर जिसका अभिनय होनेवाला है, उस काव्य-कथा को सूचित करे। इस सूचना देनेवाले व्यक्ति को स्थापक कहते हैं क्योंकि वह सूचना द्वारा काव्य-कथा को सूचित करता है।

दिव्यमर्त्ये स तद्रूपो मिश्रमन्यतरस्तयोः।

सूचयेद्वस्तु बीजं वा मुखं पात्रमथापि वा ॥३॥

स्थापक को यदि दिव्य वस्तु की सूचना देनी हो तो उसे दिव्य (देवता के) रूप से और यदि अदिव्य वस्तु की सूचना देनी हो तो मनुष्य वेश से तथा यदि मिश्रवस्तु की सूचना देनी हो तो दोनों में से किसी एक का रूप धारण करके सूचना देनी चाहिए।

यह सूचना चार बातों की होती है—१ वस्तु, २ बीज ३ मुख और ४ पात्र ॥३॥

वस्तु की सूचना जैसे 'उदात्तराघव' नाटक में—

"रामचन्द्र अपने पिता की आज्ञा को माला के समान शिरोधार्य कर वन को चले गये। उनकी (राम की) भक्ति के कारण भरत ने अपनी माता के साथ अयोध्या के सम्पूर्ण राज्य को तिलाञ्जलि दे दी। सुग्रीव और विभीषण ने राम से मित्रता कर मनोभिमत सम्पत्ति को पाया। और घमण्ड में चूर रहने वाले रावण आदि सारे शत्रु शत्रुता रखने के कारण विनाश को प्राप्त हुए।

बीज की सूचना का उदाहरण रत्नावली नाटिका का 'द्वीपादन्यस्मात्' श्लोक है जिसका अर्थ पहले ही बताया जा चुका है।

मुख—जैसे 'घने अन्धकार वाले वर्षाऋतु रूपी रावण को मार

कर स्वच्छ चन्द्रमा का हास्य लिए हुए स्वच्छ-शरत्काल-रूपी राम प्रकटित हुए।

पात्र-सूचना—जैसे 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में—

"तुम्हारे गीत के मनोहर राग ने मेरे मन को बलपूर्वक वैसे ही खींच लिया है जैसे वेग से दौड़ता हुआ यह हरिण राजा दुष्यन्त को।"

रंग प्रसाद्य मधुरैः श्लोकैः काव्यार्थसूचकैः ।

ऋतुं कंचिदुपादाय भारतीं वृत्तिमाश्रयेत् ॥४॥

अभिनेय काव्यकथा भी जिससे लक्षित होती हो ऐसे मधुर श्लोकों से सामाजिकों को प्रसन्न करता हुआ किसी ऋतु को लेकर भारती वृत्ति का आश्रयण करे ॥४॥

उदाहरणार्थ—

"प्रथम समागम के अवसर पर भगवान् शंकर से आलिंगित पार्वतीजी आप लोगों की रक्षा करें। पार्वती जो पति के पास जाने की तैयारी कर चुकने के बाद भी जो नवोढ़ा अवस्था के अनुकूल स्वाभाविक लज्जावश रोक दी गई और फिर सखियों द्वारा अनेक प्रकार की शिक्षा पाकर शिवजी के पास पहुँचा दी गई तथा वहाँ जाने पर शंकरजी के अपूर्व दर्शन से चकित हो गई और अनुरागवश उनके शरीर में रोमाञ्च हो आए। इस अवस्था को प्राप्त भगवान् शंकर द्वारा आलिंगित पार्वती आप लोगों की रक्षा करें।"

भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः ।

भेदैः प्ररोचनायुक्तैर्वीथीप्रहसनामुखैः ॥५॥

भारती वृत्ति—नट के आश्रय करके होने वाले संस्कृतबहुला वाणी के व्यापार को भारती वृत्ति कहते हैं। अर्थात् भारती वृत्ति वह है जिसमें बातचीत संस्कृत में होती है और जो नट के आश्रित रहती है और जिसमें वाणी की ही प्रधानता होती है अन्य की नहीं।

इसके चार अंग होते हैं—१ प्ररोचना, २ वीथी, ३ प्रहसन और ४ आमुख ॥५॥

उन्मुखीकरणं तत्र प्रशंसातः प्ररोचना ।

प्ररोचना—प्रस्तुत की प्रशंसा कर सामाजिकों के भीतर उत्कण्ठा जागृत कर देने का नाम प्ररोचना है।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में सूत्रधार कहता है—

'मेरे सौभाग्य से नाटक में अपेक्षित सभी गुण एक ही साथ मिल गए। इनमें से एक-एक वस्तु भी वाञ्छित फल की प्राप्ति के लिए पर्याप्त है और जब सब मिल जाएँ तो फिर क्या कहना? देखो इस नाटिका के रचयिता स्वयं महाराज हर्ष हैं। सामाजिक (दर्शक) भी गुणग्राही हैं और कथावस्तु का चुनाव भी अति उत्तम है। कारण यह है कि इसमें वर्णित वत्सराज उदयन का चरित्र भी लोगों के मन को चुरानेवाला (लुभानेवाला) सिद्ध हो चुका है तथा इसका अभिनय भी हम लोगों जैसे चतुर अभिनेताओं द्वारा किया जा रहा है।

वीथी प्रहसनं चापि स्वप्रसङ्गेऽभिधास्यते ॥६॥

वीथी और प्रहसन के बारे में आगे चलकर वहीं क्रमशः प्रसंग अनुरूप बताया जाएगा। वीथी के जो अंग हैं वही आमुख के भी हैं। अतः यहाँ पर आमुख होने के कारण वीथी के अंगों का वर्णन कर रहे हैं—

वीथ्यङ्गान्यामुखाङ्गत्वादुच्यन्तेऽत्रैव तत्पुनः ।
सूत्रधारो नटीं ब्रूते मार्षं वाथ विदूषकम् ॥७॥
स्वकार्यं प्रस्तुताक्षेपि चित्रोक्त्या यत्तदामुखम् ।
प्रस्तावना वा तत्र स्युः कथोद्घातः प्रवृत्तकम् ॥८॥
प्रयोगातिशयश्चाथ वीथ्यङ्गानि त्रयोदश ।

प्रस्तुत विषय पर विचित्र उक्तियों के द्वारा नटी, पारिपार्श्विक और विदूषक इनमें से किसी एक से बातचीत करता हुआ सूत्रधार का आक्षिप्त-पूर्ण ढंग से कथन के प्रारम्भ करा देने का नाम आमुख है। आमुख का दूसरा नाम प्रस्तावना भी है। आमुख के तीन अंग होते हैं—१ कथोद्घात २ प्रवृत्तक और ३ प्रयोगातिशय। वीथी के तेरह अंग होते हैं ॥७-८॥

स्वेतिवृत्तसमं वाक्यमर्थं वा यत्र सूत्रिणः ॥९॥
गृहीत्वा प्रविशेत्पात्रं कथोद्घातो द्विधैव सः ।

कथोद्घात—अपनी कथा के ही सदृश सूत्रधार के मुख से निकले हुए वाक्य या अर्थ को ग्रहण करके पात्र के प्रवेश होने का नाम कथोद्घात है। यह दो प्रकार का होता है। पहला वाक्य ग्रहण करके पात्र का प्रवेश करना और दूसरा वाक्यार्थ ग्रहण कर पात्र का प्रवेश करना ॥९॥

पहले का उदाहरण है—

द्वीपादन्यस्मादपि—

इसका अर्थ पहले दिया जा चुका है।

वाक्यार्थ का उदाहरण जैसे 'वेणीसंहार' में सूत्रधार कहता है—

'सन्धि के हो जाने से तथा शत्रुओं के नष्ट हो जाने के कारण शान्त हो गया है अग्निरूपी क्रोध जिनका ऐसे पाण्डव भगवान् कृष्ण के साथ आनन्दपूर्वक विचरण करें और विग्रह विहीन कौरव जिन्होंने भक्त पूर्वक प्रजा-पालन से समस्त भूमण्डल को वशीभूत कर लिया है वे भी अपने अनुचरों के साथ स्वस्थ होवें।

इसके बाद पूर्व-कथित वाक्य के अर्थ को लेकर भीम का यह कहते हुए प्रवेश करना—

जिन धृतराष्ट्र के पुत्रों ने लाख (लाह) का घर बनाकर विष मिला भोजन देकर छलने के लिए द्यूत का आयोजन करके हम लोगों के प्राण और धन हरण करने की चेष्टा की तथा जिन्होंने भरी सभा में हमारी स्त्री द्रौपदी के केशों और वस्त्रों को खींचा वे मेरे जीते जी स्वस्थ कैसे रह सकते हैं?

प्रवृत्तक

कालसाम्यसमाक्षिप्तप्रवेशः स्यात् प्रवृत्तकम् ॥१०॥

सूत्रधार के द्वारा ऋतु-विशेष के वर्णन में समान गुणों के कारण जिसकी सूचना मिलती उस पात्र के प्रवेश करने को प्रवृत्तक कहते हैं ॥१ ॥

उन्मुखीकरणं तत्र प्रशंसातः प्ररोचना ।

प्ररोचना—प्रस्तुत की प्रशंसा कर सामाजिकों के भीतर उत्कण्ठा जागृत कर देने का नाम प्ररोचना है।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में सूत्रधार कहता है—

"मेरे सौभाग्य से आज ये सर्वाधिक सभी गुण एक ही साथ मिल गए। इनमें से एक-एक वस्तु भी वाञ्छित फल की प्राप्ति के लिए पर्याप्त है और जब सब मिल जाएँ तो फिर क्या कहना? देखो इस नाटिका के रचयिता स्वयं महाराज हर्ष हैं। सामाजिक (दर्शक) भी गुणग्राही हैं और कथावस्तु का चुनाव भी अति उत्तम है। कारण यह है कि इसमें वर्णित वत्सराज उदयन का चरित्र भी लोगों के मन को लुभानेवाला (सुहावना) सिद्ध हो चुका है तथा इसका अभिनय भी हम लोगों जैसे चतुर अभिनेताओं द्वारा किया जा रहा है।

वीथी प्रहसनं चापि स्वप्रसङ्गेऽभिधास्यते ॥६॥

वीथी और प्रहसन के बारे में आगे चलकर वहीं उनका प्रसंग आएगा बताया जाएगा। वीथी के जो अंग हैं वही आमुख के भी हैं। अतः यहीं पर आमुख होने के कारण वीथी के अंगों का कथन कर रहे हैं—

वीथ्यङ्गान्यामुखाङ्गत्वादुच्यन्तेऽत्रैव तत्पुनः ।
सूत्रधारो नटीं ब्रूते मार्षं वाथ विदूषकम् ॥७॥
स्वकार्यं प्रस्तुताक्षेपि चित्रोक्त्या यत्तदामुखम् ।
प्रस्तावना वा तत्र स्युः कथोद्घातः प्रवृत्तकम् ॥८॥
प्रयोगातिशयश्चाथ वीथ्यङ्गानि त्रयोदश ।

प्रस्तुत विषय पर विचित्र उक्तियों के द्वारा नटी, पारिपार्श्विक और विदूषक इनमें से किसी एक से वार्तालाप करता हुआ सूत्रधार का वाञ्छित-पूर्ण ढंग से कथन के आरम्भ करा देने का नाम आमुख है। आमुख का दूसरा नाम प्रस्तावना भी है। आमुख के तीन अंग होते हैं—१ कथोद्घात २ प्रवृत्तक और ३ प्रयोगातिशय। वीथी के तेरह अंग होते हैं ॥७-८॥

यह स्वच्छन्द रहता है और सुख में ही इस पर चला जाता है। स्नेह के इस प्रकार के ललित मार्ग को ही कामदेव कहते हैं।

विदूषक—क्या जो कोई जिस किसी वस्तु की चाह रखे वह उसके लिए काम ही हो जाएगा ?

राजा—और क्या ?

विदूषक—अच्छी बात है तब तो मैं जान गया भोजनालय में मेरी भोजन करने की इच्छा का होना भी काम है।"

दूसरे भेद का उदाहरण जैसे 'पाण्डवानन्द' काव्य में—'गुणीजन किस वस्तु के होने से प्रशंसनीय समझे जाते हैं ? 'क्षमा'। अनादर किसे कहते हैं ? 'जो अपने कुलवालों के द्वारा किया जाए। दुःख किसे कहते हैं ? 'दूसरे के वश में रहना। संसार में कौन प्रशंसनीय है ? 'जो विपत्ति में पड़े लोगों को आश्रय दे। मृत्यु किसे कहते हैं ? 'व्यसनों में फँसे रहने को। चिन्ता रहित कौन है ? 'जिसने शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली है। ऊपर कहे तथ्यों से युक्त कौन पुरुष है ? 'विराट् नगर में छिपे हुए पाँचों पाण्डव-पुत्र।

यत्रैकत्र समावेशात् कार्यमन्यत्प्रसाध्यते ॥१४॥

प्रस्तुतेऽन्यत्र वान्यत्स्यात्तच्चावलगितं द्विधा।

अवलगित—(१) एक ही क्रिया के द्वारा जहाँ दो कार्यों की सिद्धि होती है, तथा (२) अन्य वस्तु के प्रस्तुत रहते अन्य क्रिया जाए उसे अवलगित कहते हैं। इस प्रकार अवलगित दो प्रकार का होता है ॥१४॥

उसमें पहले का उदाहरण जैसे 'उत्तररामचरित' में गर्भिणी सीता को ऋषियों के आश्रम देखने की इच्छा होती है पर इस इच्छा की पूर्ति के बहाने फैले हुए अपवाद के कारण वह लक्ष्मण के द्वारा छोड़ दी जाती है। दूसरे भेद का उदाहरण जैसे 'छलितराम' में—"राम—लक्ष्मण! पिताजी से रहित इस अयोध्या में विमान के द्वारा जाने में असमर्थ हूँ अतः उतरकर पैदल ही चलता हूँ।

"अरे सिंहासन के नीचे पादुकाओं को आगे करके बैठा हुआ यह

जैसे—पृष्ठ १८ की टिप्पणी में दिया जा चुका है।

एषोऽयमित्युपक्षेपात् सूत्रधारप्रयोगतः।

पात्रप्रवेशो यत्रैष प्रयोगातिशयो मतः ॥११॥

प्रयोगातिशय—जहाँ सूत्रधार नटी से किसी प्रसंग की चर्चा करते हुए अभिनेय व्यक्ति का नाम लेकर संकेत करे कि 'अरे ये तो वे ही हैं' या 'उनके समान हैं'। और उसके कथन के साथ ही उस व्यक्ति के अभिनय करने वाले पात्र का प्रवेश हो जाए उसे प्रयोगातिशय कहते हैं ॥११॥

जैसे 'अभिज्ञानशाकुन्तल' का—'एष राजेव दुष्यन्तः'

अब वीथी के अंगों को बताया जा रहा है—

उद्घात्यकावलगिते प्रपञ्चत्रिगते छलम्।

वाक्केल्यधिबले गण्डमवस्यन्दितनालिके ॥१२॥

असत्प्रलापव्याहारमृदवानि त्रयोदश।

वीथी के तेरह अंग होते हैं—(१) उद्घात्यक, (२) अवलगित (३) प्रपञ्च (४) त्रिगत (५) छल (६) वाक्केली (७) अधिबल, (८) गण्ड (९) अवस्यन्दित (१) नालिका (११) असत्प्रलाप, (१२) व्याहार (१३) मृदव ॥१ ॥

गूढार्थपदपर्यायमाला प्रश्नोत्तरस्य वा ॥१३॥

यत्रान्योन्यं समालापो द्वेधोद्घात्यं तदुच्यते।

१ उद्घात्यक—गूढार्थ की पर्यायमाला (क्रम से एक के बाद दूसरे का आना) अथवा प्रश्नोत्तर शृंखला (तांता) के द्वारा जो दो व्यक्तियों की बातचीत होती है उसे उद्घात्यक कहते हैं ॥१३॥

प्रथम का उदाहरण जैसे 'विक्रमोर्वशी' नाटक में—

"विदूषक—हे मित्र यह कौन कामदेव है जो तुम्हें दुःख पहुँचाया करता है? वह क्या पुरुष है अथवा स्त्री?

राजा—मित्र! मन से ही उसकी उत्पत्ति होती है, अतः मन ही इसकी गति है।

यह स्वच्छन्द रहता है और सुख में ही इस पर चला जाता है। स्नेह के इस प्रकार के ललित मार्ग को ही कामदेव कहते हैं।

विदूषक—क्या जो कोई जिस किसी वस्तु की चाह रखे वह उसके लिए काम ही हो जाएगा ?

राजा—और क्या ?

विदूषक—अच्छी बात है तब तो मैं जान गया भोजनालय मे मेरी भोजन करने की इच्छा का होना भी काम है।"

दूसरे भेद का उदाहरण जैसे 'पाण्डवानन्द' काव्य में— 'गुणीजन किस वस्तु के होने से श्लाघनीय समझे जाते हैं ? 'क्षमा'। अनादर किसे कहते हैं ? 'जो अपने कुलवालो के द्वारा किया जाए। दुःख किसे कहते हैं ? 'दूसरे के वश मे रहना। संसार मे कौन प्रशंसनीय है ? 'जो विपत्ति मे पड़े लोगो को आश्रय दे। मृत्यु किसे कहते हैं ? 'व्यसनो मे फँसे रहने को। चिन्ता रहित कौन है ? 'जिसने शत्रुओ पर विजय प्राप्त कर ली है। ऊपर कहे तथ्यो से युक्त कौन पुरुष है ? 'विराट् नगर मे छिपे हुए पाँचो पाण्डव-पुत्र।

एकत्र समावेशात् कार्यमन्यत्प्रसाध्यते ॥१४॥
प्रस्तुतेऽन्यत्र वान्यत्स्यात्तच्चावलगितं द्विधा।

अवलगित—(१) एक ही क्रिया के द्वारा जहाँ दो कार्यों की सिद्धि होती है तथा (२) अन्य वस्तु के प्रस्तुत रहते अन्य किया जाए उसे अवलगित कहते हैं। इस प्रकार अवलगित दो प्रकार का होता है ॥१५॥

उसमे पहले का उदाहरण जैसे 'उत्तररामचरित' में गर्भिणी सीता को ऋषियो के आश्रम देखने की इच्छा होती है पर इस इच्छा की पूर्ति के बहाने फैले हुए अपवाद के कारण वह लक्ष्मण के द्वारा छोड़ दी जाती है। दूसरे भेद का उदाहरण जैसे 'छलितराम' मे— 'राम—लक्ष्मण ! पिताजी से रहित इस अयोध्या मे विमान के द्वारा जाने में असमर्थ हूँ अतः उतरकर पैदल ही चलता हूँ।

"अरे सिंहासन के नीचे पादुकाओ की आगे करके बैठा हुआ यह

मालाओं तथा जटाजूटों से युक्त कौन पुरुष सुशोभित हो रहा है ?

यहाँ भरत के दर्शनरूप कार्य की सिद्धि होती है।

प्रसङ्गस्तु मिथः स्तोत्रं प्रपञ्चो हास्यकृन्मतः ॥१५॥

प्रपंच—प्रसत्कर्मों के कारण आपस में हास्योत्पादक प्रशंसा करने का नाम प्रपंच है ॥१५॥

प्रसत्कर्म के प्रन्दर परस्त्रीगमन में निपुण होना आदि बातें आती हैं।

जैसे 'कर्पूर-मञ्जरी' में भैरवानन्द का यह कथन — 'कौन ऐसा व्यक्ति होगा जिसको हमारा कौल धर्म पसन्द न आए ? रण्डा (विधवा) अथवा अर्थात् प्रचण्ड पराक्रमशालिनी स्त्री ही तो हमारी शास्त्रविहित नारियाँ हैं। भिक्षाटन ही जीविका का साधन है। चर्म का टुकड़ा ही हमारी शैया है तथा मद्य और मांस ही हमारा पेय तथा खाद्य पदार्थ है।

श्रुतिसाम्यादनेकार्थयोजनं त्रिगतं त्विह ।

नटादित्रितयालापः पूर्वरङ्गे तदिष्यते ॥१६॥

त्रिगत—शब्दों की साम्यता अर्थात् जहाँ एक शब्दाकार से अनेक अर्थों की योजना होती है उसे त्रिगत कहते हैं। इसका आयोजन पूर्व रंग में नट आदि तीन पात्रों की बातचीत से होता है ॥१६॥

जैसे 'विक्रमोर्वशी' नाटक में— 'क्या यह फूलों का रस पीकर मदोन्मत्त भौंरों की गुंजार है या कोयल की मस्तानी कूक ? अथवा आकाश में देवताओं के साथ जाई हुई अप्सराओं की मीठी तान ?"

प्रियाभैरप्रियैर्वाक्यैर्विलोभ्य छलनाच्छलम् ।

छलन—ऊपर से देखने में जो प्रिय लगें पर हों अप्रिय ऐसे वाक्यों द्वारा लुभा करके छलने (ठगने) का नाम छलन है।

जैसे भीम-अर्जुन— 'धूतरूपी कपट का निर्माता लाख (लाह) निर्मित भवन में आग लगानेवाला द्रौपदी के केश और वस्त्रों के अपहरण करने में वायु के समान पराक्रम को दिखानेवाला पाण्डव जिनके सेवक हैं

और दुःशासन आदि सौ भाइयों में श्रेष्ठ कर्ण का मित्र दुर्योधन कहाँ है ?

विनिवृत्यास्य वाक्केली द्विस्त्रिः प्रत्युक्तितोऽपि वा ॥१७॥

वाक्केली—इसके दो भेद होते हैं। पहले का लक्षण—प्रकरण प्राप्त बात को कहते-कहते रुक जाना या उसको बदल देने को वाक्केली कहते हैं ॥१७॥

जैसे 'उत्तररामचरित' में वासन्ती राम से कह रही है कि आपने जिस सीता से यह कहा था कि "तुम ही मेरा जीवन-सर्वस्व हो तुम्ही मेरा दूसरा हृदय हो तुम्ही मेरे नेत्रों के लिए कौमुदी हो और तुम्ही मेरे अंगों के लिए अमृत हो उसी सीता को इस प्रकार से सैकड़ों चाटुकारिता-भरी बातें करके और भरमाकर उसकी जो दशा (आपके द्वारा) की गई उसका न कहना ही ठीक है।"

वाक्केली का दूसरा लक्षण—दो-तीन व्यक्तियों की हास्ययुक्त उक्ति-प्रयुक्ति को वाक्केली कहते हैं।

जैसे 'रत्नावलीनाटिका' में—विदूषक—मदनिके! मुझे भी यह चर्चरी सिखाओ।

मदनिका—मूर्ख इसे चर्चरी नहीं कहते यह तो द्विपदी खण्ड है।

विदूषक—अरी तो क्या यह लड्डू बनाने के काम आता है?

मदनिका—ऐसी बात नहीं है यह पढ़ा जाता है।

अन्योन्यवाक्याधिक्योक्तिः स्पर्धयाऽधिबलं भवेत्।

अधिबल—दो व्यक्तियों का एक का दूसरे की अपेक्षा बढ़-बढ़कर स्पर्धा के साथ बात करने को अधिबल कहते हैं।

जैसे 'वेणीसंहार' में अर्जुन का धृतराष्ट्र और गान्धारी के सामने अपना परिचय देते हुए यह कथन—

"जिसके बल पर आपके पुत्र सम्पूर्ण शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने की आशा लगाए हुए थे जिसके अहंकार से विश्व तिनके के समान तिरस्कृत हो चुका था उसी कर्ण के सिर को युद्ध के बीच काटनेवाला यह पाण्डु का मध्यम पुत्र अर्जुन आप लोगों को प्रणाम करता है। इसके बाद

भीम को धृतराष्ट्र और गान्धारी को प्रणाम करते हुए कहते हैं—

यहाँ से प्रारम्भ कर फिर दुर्योधन के इस कथन तक—"अरे भीम मैं तेरे जैसा डींग हाँकनेवाला नहीं हूँ किन्तु शीघ्र ही तेरे भाई-बन्धु तुझे समराङ्गण के बीच मेरी गदा से टूटी पसलियों के भयानक आभूषण से सुसज्जित भीम ही देखेंगे।

यहाँ पर भीम और दुर्योधन का एक-दूसरे के प्रति बढ़-चढ़कर स्पर्धा के साथ वाक्युद्ध का होना ही अधिबल है।

गण्डः प्रस्तुतसम्बन्धिभिन्नार्थं सहसोदितम् ॥१८॥

गण्ड—प्रासंगिक विषय से सम्बन्धित भिन्न अर्थ को प्रकट करने वाले त्वरायुक्त वाक्य को गण्ड कहते हैं ॥ १८ ॥

जैसे—'उत्तररामचरित' में— 'यह सीता घर की लक्ष्मी है, यह नेत्रों में अमृतशलाका है, इसका यह स्पर्श शरीर में प्रचुर चन्दन का रस के समान है और यह बाहु-गले पर शीतल और कोमल मुक्ताहार है। इसकी क्या वस्तु प्रियतर नहीं है? परन्तु इसका वियोग तो बहुत ही असहनीय है।"

प्रतिहारी (प्रवेश कर)—महाराज उपस्थित है।

राम—अरी कौन उपस्थित है?

प्रतिहारी—महाराज का समीपवर्ती सेवक दुर्मुख।

रसोक्तस्यान्यथा व्याख्या यत्रावस्पन्दितं हि तत्।

अवस्पन्दित—साथ-साथ कहे हुए वाक्य का दूसरे ही प्रकार से दूसरी ही व्याख्या कर देने (किये) को अवस्पन्दित कहते हैं।

जैसे—'छलित राम' नाटक में "सीता लव और कुश दोनों बच्चों से कहती है—बेटा तुम लोगों को कल अयोध्या जाना है। वहाँ जाकर राजा को नम्रतापूर्वक प्रणाम करना।

लव—माताजी क्या हम लोगों को भी राजा के आश्रित होकर रहना पड़ेगा?

सीता— बच्चो वे तुम लोगो के पिता हैं।

लव—क्या रामचन्द्र हम लोगो के पिता हैं ?

सीता— (सशङ्क होकर) केवल तुम्ही दोनों के नही अपितु सम्पूर्ण विश्व के पिता हैं।

सोपहासा निगूढार्था नालिकेव प्रहेलिका ॥१६॥

नालिका—उपहासपूर्ण गूढ भाववाली पहेली को नालिका कहते हैं। १६ ॥

जैसे 'मुद्राराक्षस' नाटक मे—चर—अरे ब्राह्मण कुपित मत होओ सभी सब-कुछ नही जानते कुछ तेरे गुरु जानते हैं और कुछ मेरे ऐसे व्यक्ति भी जानते हैं।

शिष्य —(क्रोध के साथ) क्या तू गुरुजी की सर्वज्ञता नष्ट करना चाहता है ?

चर— अरे ब्राह्मण यदि तेरा गुरु सब-कुछ जानता है तो बताए चन्द्र किसको प्रिय नही है ?

शिष्य—मूर्ख इस बेकार की बातो की जानकारी की क्या आवश्यकता ?

इन बातो को सुनकर चाणक्य समझ गया कि इसके (चर के) कहने का तात्पर्य यह है कि मैं चन्द्रगुप्त के शत्रुओ को जानता हूँ।

असम्बद्धकथाप्रायोऽसत्प्रलापो यथोत्तरः।

असत्प्रलाप—असम्बद्ध बे-सिर-पैर की बात कहने को असत्प्रलाप कहते हैं।

स्वप्न मे बरति हुए की पागल की उन्मत्त की और शिशु आदि की कही हुई ऊँटपटाग बातें इसमे आती हैं।

जैसे— 'वासुकि सर्प के मुँह मे हाथ डालकर मुँह को फैलाकर विष से विचित्र दाँतो को अंगुली से एक-एकर एक दोन सब साठ क इस प्रकार से क्रमरहित गिनी जाती हुई भगवान् स्वामि कार्तिकेय की बाल्यावस्था की तोतली बोली आप लोगो की रक्षा करे।

अथवा जैसे—"राजा हाथ जोड़कर हंस से कहता है—हे हंस मेरी प्रिय प्यारी की चाल तुमने चुरा ली है उसे मुझे लौटा दो क्योंकि चोर के पास यदि चोरी की हुई एक भी वस्तु मिल जाए तो उसे पूरे को लौटाना पड़ता है।"

अथवा जैसे—कोई प्रलापी कह रहा है—

"मैंने पर्वतों को खाया है, मैंने अग्नि में स्नान भी किया है इसके अलावा ब्रह्मा विष्णु और शिव ऐसे पुत्रों को भी पैदा किया है। अब इसी खुशी में आनन्द के साथ नाच रहा हूँ।

अन्यार्थमेव व्याहारो हास्यलोभकरं वचः ।।२ ।।

व्याहार—दूसरे की प्रयोजन सिद्धि के लिए हास्यपूर्ण और लोभजनक वचन बोलने को व्याहार कहते हैं ।। २ ।।

जैसे 'मालविकाग्निमित्र' में लास्य के प्रयोग के बाद मालविका जाना चाहती है, उसको जाते देख विदूषक कहता है—अभी नहीं थोड़ी देर इनके उपदेश सुनकर जाओ। यहाँ से शुरू करके [गणदास और विदूषक के उत्तर-प्रत्युत्तर पर्यन्त] गणदास विदूषक से कहता है—आर्य यदि आपने इनके इस कार्य में कोई क्रमभेद पाया हो तो कहिए।

विदूषक—सर्वप्रथम ब्राह्मण की पूजा का विधान है इसका अवश्य इन्होंने उल्लंघन किया है।

यह सुनकर मालविका हँसने लगती है। यहाँ पर हास्य और लोभकारी वचन कहे जाने का मुख्य उद्देश्य नायक को विश्रब्ध नायिका का दर्शन कराना है, अतः यह व्याहार है।

दोषा गुणा गुणा दोषा यत्र स्युर्मृदवं हि तत् ।

मृदव—जहाँ दोष को गुण और गुण को दोष समझा जाता हो ऐसे वर्णन को मृदव कहते हैं।

जैसे 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में सेनापति महाराज दुष्यन्त से कहता है—महाराज यह व्यर्थ की बात करता है। महाराज आप स्वयं इस आखेट का गुण देख ही रहे हैं—

'आखेट से चर्बी घट जाती है तोंद छोटी हो जाती है शरीर हलका और फुर्तीला हो जाता है (चुस्ती आ जाती है) पशुओं के मुँह पर जो भय और क्रोध दिखाई देता है उसका ज्ञान होता है और चलते हुए लक्ष्यों पर बाण चलाने से हाथ सध जाता है। लोग व्यर्थ में ही आखेट को बुरा कहते हैं। भला इतना मनोविनोदन और कहाँ मिल सकता है ? '[1]

और भी जैसे— 'इस विजेता राजा पर तो जरा दृष्टिपात करिए, इसका चित्त राज्य आदि के झंझटों में पड़कर सर्वदा अशान्त बना रहता है और यह अनेक प्रकार के परिश्रम के कारण कष्ट सहता रहता है। चिन्ता के मारे इसे रात को भरपेट नींद भी नहीं आती। यह राज्य के मामलों में इतना सशंक रहता है कि किसी पर विश्वास नहीं करता।

यहाँ राज्य के गुण को दोष-रूप में वर्णन किया गया है।

अब एक ही पद्य में दोनों बातें अर्थात् दोष को गुण और गुण को दोष बताया जाता है—

सदाचार का पालन करनेवाले महात्मा लोग सर्वदा आपत्तियों में ही पड़े रहते हैं। और सदा इस बात से सशंकित रहते हैं कि कहीं कोई उनके चरित्र में दोष न निकाल दे। उनका जीवन ही सतत परोपकारपरायण रहने के कारण दुःखमय बना रहता है। इससे तो अच्छा साधारण पुरुष का जीवन है—मूर्खों को कुछ अच्छा हुआ तो बुरा हुआ तो उन्हें हर्ष-विषाद नहीं होता। इसलिए मेरी दृष्टि में क्या युक्त है, क्या अयुक्त है इस ज्ञान से मुक्त व्यक्ति ही धन्य है और उसका ही जीवन सुखकर है।

एषामन्यतमेनार्थं पात्रं चाक्षिप्य सूत्रभृत् ॥२१॥

प्रस्तावनान्ते निर्गच्छेत्ततो वस्तु प्रपञ्चयेत् ।

उपर्युक्त बताए हुए वीथी के अंगों में से किसी एक के द्वारा अर्थ

१ यहाँ पर आखेट का दोष गुण रूप से वर्णित है।

और पात्र का प्रस्ताव करके प्रस्तावना के अंत में सूत्रधार को चला जाना चाहिए। और उसके बाद कथावस्तु का अभिनय आरम्भ हो जाना चाहिए ॥२१॥

अभिगम्यगुणैर्युक्तो धीरोदात्तः प्रतापवान् ॥२२॥
कीर्तिकामो महोत्साहस्त्रय्यास्त्राता महीपतिः ।
प्रख्यातवंशो राजर्षिर्दिव्यो वा यत्र नायकः ॥२३॥
तत्प्रख्यातं विधातव्यं वृत्तमत्राधिकारिकम् ।

नाटक का नायक धीरोदात्त होना चाहिए। नायक के अन्दर अपेक्षित गुण, प्रताप और कीर्ति प्राप्त करने की इच्छा, महान् उत्साह-सम्पन्न और वेद का रक्षक होना चाहिए। इसके अलावा उसका जन्म उच्च वंश में होना चाहिए। नाटक का नायक राजा या राजर्षि अथवा दिव्य पुरुष होना चाहिए ॥२२-२३॥

ऊपर कहे हुए गुणों से युक्त नायक जिस प्रसिद्ध कथा में हो वही कथा नाटक की आधिकारिक कथा कही जाती है।

जिस इतिवृत्त (कथावस्तु) में सत्यवादिता, कीर्तिस्पृहासहित श्रेष्ठ नीतिमत्ता आदि से युक्त राजा, राजर्षि या दिव्य पुरुष का चरित्र वर्णन हो उसी प्रकार कथा को नाटक की प्रधान कथावस्तु रखना चाहिए। इसके अलावा एक शर्त इसमें यह भी है कि उस कथा का वर्णन रामायण या महाभारत में प्रख्यात हुआ हो तभी वह और गुणों से युक्त होते हुए नाटक की प्रधान कथावस्तु हो सकती है।

यत्तत्रानुचितं किञ्चिन्नायकस्य रसस्य वा ॥२४॥
विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत् ।

इस कथावस्तु के भीतर यदि कहीं नायक के गुण या नाटकीय रस का विरोधी वृत्तान्त दिखाई देता हो तो उसे छोड़ देना चाहिए अथवा यदि उसे वर्णन करने की इच्छा ही हो तो उसे ऐसे ढंग से वर्णन करे ताकि विरुद्धता न लक्षित होती हो ॥२४॥

जैसे 'उदात्त राघव' नाटक के प्रणेता ने अपने नाटक में छल के साथ वालि के वध का वृत्तान्त हटा दिया है। और 'महावीरचरित' नाटक में तो कवि ने इस प्रकार से वर्णन किया है कि वालि रावण का मित्र था और राम रावण युद्ध में रावण की तरफ से राम से लड़ने गया था पर स्वयं मारा गया। इस प्रकार यहाँ पर कथा को ही अन्यथा करके वर्णन किया गया है।

आद्यन्तमेवं निश्चित्य पञ्चधा तद्विभज्य च ।।२५।।
खण्डशः सन्धिसंज्ञांश्च विभागानपि खण्डयेत् ।

नाटक की रचना करते समय आदि और अन्त का निश्चय कर आधिकारिक कथा को पाँच भागों में विभक्त कर प्रत्येक खण्डों की सन्धि संज्ञा देनी चाहिए। उसके बाद पाँचों खण्डों (संधियों) में से प्रत्येक को अनेक भागों में बाँट देना चाहिए ।।२५।।

अनुचित और विरोधी रसों को छोड़कर शुद्ध सूचनीय और दर्शनीय वस्तुओं का विभाग फल के अनुसार विहित बीज बिन्दु, पताका प्रकरी और कार्य इनको आरम्भ यत्न प्राप्त्याशा नियताप्ति फलागम इन पाँच अवस्थाओं के अनुकूल पाँच संधियों में विभक्त करना चाहिए।

चतुःषष्टिस्तु तानि स्युरङ्गानीत्यपरं तथा ।।२६।।
पताकावृत्तमप्यूनमेकाद्यैरनुसंधिभिः ।

इसके बाद संधियों के प्रत्येक भाग को बारह तेरह चौदह इत्यादि भागों में विभक्त करना चाहिए। इस प्रकार से संधियों के ६४ अंग होते हैं ।।२६।।

ऊपर आधिकारिक कथा की बात आ चुकी है अब कथावस्तु का दूसरा भेद अर्थात् प्रासंगिक कथा के बारे में बताते हैं।

अङ्गान्यत्र यथालाभमसंधिं प्रकरीं न्यसेत् ।।२७।।

प्रासंगिक इतिवृत्त दो प्रकार का होता है—१ पताका और २ प्रकरी। पताका में प्रधान (आधिकारिक) कथावस्तु की अपेक्षा कुछ

(एक, दो या तीन) कम संधियों को रखना चाहिए। और प्रकरी में तो इतिवृत्त के प्रति गौण होने के कारण संधि की योग्यता ही नहीं है ॥२७॥

आदौ विष्कम्भकं कुर्यादङ्कं वा कार्ययुक्तितः ।

इस प्रकार से सब विभाग आदि कर चुकने के बाद प्रस्तावना के अनंतर काव्य-व्यापार को ध्यान में रखकर युक्ति के साथ आदि में विष्कंभक या अंक की रचना करे।

विष्कंभक और अंक की रचना किस प्रकार से होनी चाहिए, इस बात को बताते हैं—

अपेक्षितं परित्यज्य नीरसं वस्तुविस्तरम् ॥२८॥

यदा संदर्शयेच्छेषं कुर्याद्विष्कम्भकं तदा ।

यदा तु सरसं वस्तु मूलादेव प्रवर्तते ॥२९॥

आदावेव तदाङ्कः स्यादामुखाक्षेपसंश्रयः ।

वस्तु के उस विस्तृत भाग को जो अपेक्षित भी हो और नीरस भी हो, छोड़कर अवशिष्ट अपेक्षित भाग से विष्कंभक की रचना होनी चाहिए। और जहाँ पर सरस वस्तु प्रारम्भ से ही हो वहाँ पर आमुख में की गई सूचना का आश्रय लेकर अंक की रचना करनी चाहिए ॥२८ २९॥

प्रत्यक्षनेतृचरितो बिन्दुव्याप्तिपुरस्कृतः ॥३०॥

अङ्को नानाप्रकारार्थसंविधानरसाश्रयः ।

अंक — इसमें नायक के कार्यों का प्रत्यक्ष वर्णन रहता है। यह बिन्दु के लक्षण से युक्त तथा अनेक प्रकार के प्रयोजन का करनेवाला तथा रस का आश्रय होता है। रस के आश्रय होने के कारण इसका नाम अंक पड़ा है ॥३० ॥

इसके पक्ष नामकरण का तात्पर्य यह है कि जैसे उत्संग (गोद) किसी बच्चे के बैठने के लिए आश्रय होता है, वैसे ही यह (अंक) भी रसों के बैठने (रहने) के लिए आश्रय होता है, इसीसे इसको अंक कहते हैं।

अनुभावविभावाभ्यां स्थायिना व्यभिचारिभिः ॥३१॥
गृहीतमुक्तैः कर्तव्यमङ्गिनः परिपोषणम् ।

इसमें भी विभाव अनुभाव व्यभिचारीभाव तथा स्थायीभावों के द्वारा अंगी (प्रधान) रस को पुष्ट करना चाहिए। कारिका में 'अंगिन' पद आया है इसका अर्थ है 'अंगी रस का स्थायीभाव'। 'गृहीतमुक्तैः' का अर्थ है, 'परस्पर मिले हुए'। 'स्थायिना' का अर्थ 'अन्य रस का स्थायी' होता है ॥३१॥

न चातिरसतो वस्तु दूरं विच्छिन्नतां नयेत् ॥३२॥
रसं वा न तिरोदध्याद्वस्त्वलंकारलक्षणैः ।

नाटकों को रसपूर्ण तो होना ही चाहिए, पर रस का इतना आधिक्य न होना चाहिए कि कथावस्तु का प्रवाह ही विच्छिन्न हो जाए और इसी प्रकार नाटक रचना में वस्तु और अलंकार तो रहना चाहिए पर ऐसा न हो जाए कि वस्तु और अलंकार के ही चक्कर में पड़कर रस ही गायब (नष्ट) हो जाए ॥३२॥

एको रसोऽङ्गीकर्तव्यो वीरः शृङ्गार एव वा ॥३३॥
अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कुर्यान्निर्वहणेऽद्भुतम् ।

नाटक में प्रधानता एक ही रस की होनी चाहिए, वह चाहे शृंगार हो या वीर ॥३३॥

[तात्पर्य यह है कि नाटक-भर में केवल एक रस की प्रधानता होती है] और नाटक में आये हुए अन्य रसों को प्रधान रस के अंग रूप में ही रखना चाहिए। इसके अलावा नाटक में जहाँ निर्वहण संधि का स्थल हो वहाँ पर अद्भुत रस की रचना होनी चाहिए।

प्रश्न—यदि कोई यह कहे कि पहले ३१वीं कारिका में 'स्थायिना' (स्थायी के द्वारा) आया है उसका तो अर्थ अन्यरस का स्थायी होता है इसलिए इस ३३वीं कारिका के द्वारा अन्य रसों को प्रधान रस का अंग होना चाहिए, यह बात कही जा चुकी है फिर यहाँ पर ३३वीं

कारिका में फिर "अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कुर्यान्निर्वहणेऽद्भुतम्" इत्यादि से उसी बात को दोहराने से क्या लाभ है ?

उत्तर—ऐसी शंका करना ठीक नहीं है क्योंकि दोनों स्थानों पर अलग-अलग लिखे जाने का भाव भी अलग-अलग है—जहाँ पर अन्य रस का स्थायीभाव अपने विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव प्रादुर्भूत हों वहाँ अन्य रसों को प्रधान रस की अंगता प्राप्त होती है अन्यथा केवल स्थायी रहने पर तो व्यभिचारी भाव ही रहते हैं।

नाटक में निम्नलिखित बातों को नहीं दिखलाना चाहिए—

दूराध्वानं वधं युद्धं राज्यदेशादिविप्लवम् ॥३४॥
संरोधं भोजनं स्नानं सुरतं चानुलेपनम् ।
अम्बरग्रहणादीनि प्रत्यक्षाणि न निर्दिशेत् ॥३५॥

दूर का रास्ता, वध, युद्ध, राज्य-विप्लव, देश-विप्लव आदि और दूसरे राजा से किया गया नगर का घेरा, भोजन, स्नान, सुरत, अनुलेपन और वस्त्रधारण करना इत्यादि इन सब बातों को प्रत्यक्ष रूप से नहीं दिखाना चाहिए, किन्तु प्रवेशक आदि के द्वारा सूचित कर देना चाहिए। ॥३४-३५॥

नाधिकारिवधं क्वापि त्याज्यमावश्यकं न च ।

अधिकारी नायक की वध दिखाने की बात दूर रही, प्रवेशक आदि से भी उसकी सूचना न होनी चाहिए और आवश्यकीय देवकार्य पितृकार्य आदि को कभी भी नहीं छोड़ना चाहिए। उनका दिखाना आवश्यक है।

एकाहाचरितैकार्थमित्थमासन्ननायकम् ॥३६॥
पात्रैस्त्रिचतुरैरङ्कं तेषामन्तेऽस्य निर्गमः ।

एक अङ्क में प्रयोजन से सम्बन्धित एक ही दिन की कथा होनी चाहिए। प्रधान नायक को भी अंक में अवश्य उपस्थित रखना चाहिए ॥३६॥

नायक के अतिरिक्त तीन या चार पात्रों को रहना चाहिए। अन्त में सबको (यहाँ तक कि नायक) को भी निकल जाना चाहिए।

पताकास्थानकान्यत्र बिन्दुरन्ते च बीजवत् ॥३७॥

एवमङ्काः प्रकर्तव्याः प्रवेशादिपुरस्कृताः ।

पञ्चाङ्कमेतदवरं दशाङ्कं नाटकं परम् ॥३८॥

इसी प्रकार यथोचित स्थान पर पताकास्थानक तथा बीज के ही सदृश बिन्दु को भी रखना चाहिए। बिन्दु की रचना अंकों के अन्त में होनी चाहिए। इस प्रकार से प्रवेशक आदि के साथ अंकों की रचना करनी चाहिए। नाटक कम-से-कम पाँच अंकों का तथा अधिक-से-अधिक दस अंक का होना चाहिए ॥३७-३८॥

इसके बाद प्रकरण-नामक रूपक-भेद को बताते हैं—

अथ प्रकरणे वृत्तमुत्पाद्यं लोकसंश्रयम् ।

अमात्यविप्रवणिजामेकं कुर्याच्च नायकम् ॥३९॥

धीरप्रशान्तं सापायं धर्मकामार्थतत्परम् ।

शेषं नाटकवत्सन्धिप्रवेशकरसादिकम् ॥४०॥

प्रकरण— इसकी कथावस्तु लौकिक तथा कल्पित होती है। इसका नायक धीरप्रशान्त होता है। इसके नायक ब्राह्मण मन्त्री वैश्य इनमें से कोई एक होते हैं। इसका नायक धर्म अर्थ काम और मोक्ष में तत्पर रहता है। यह (नायक) विघ्न-बाधाओं का सामना करते हुए अपनी इच्छापूर्ति में लगा रहता है। इसमें (प्रकरण में) शेष बातें जैसे सन्धि प्रवेशक तथा रस आदि को नाटक के समान ही रखा जाता है ॥४ ॥

नायिका तु द्विधा नेतुः कुलस्त्री गणिका तथा ।

क्वचिदेकैव कुलजा वेश्या क्वापि द्वयं क्वचित् ॥४१॥

कुलजाभ्यन्तरा बाह्या वेश्या नातिक्रमोऽनयोः ।

आभिः प्रकरणं त्रेधा संकीर्णं धूर्तसंकुलम् ॥४२॥

प्रकरण में नायक की परिणीता, कुलजा दोनों प्रकार की नायिका विहित हैं। कहीं पर कुलजा (कुलीन) कहीं पर गणिका और कहीं पर दोनों ही नायक की नायिका होती हैं। प्रकरण में तीन ही प्रकार की नायिकायें हो सकती हैं। इससे अधिक भेद नहीं किया जा सकता। इस नियम का उल्लंघन कदापि नहीं किया जा सकता। इस प्रकार प्रकरण के कुल तीन भेद हुए—पहला जिसमें कुलकन्या नायिका होती है, यह शुद्ध भेद हुआ। जिसमें गणिका हो वह विकृत तथा जिसमें दोनों हों उसे संकीर्ण कहते हैं ॥४१ ४२॥

अर्थ पैदा करना ही जिसके जीवन का प्रधान धर्म है उसे वेश्या कहते हैं इसीमें कुछ और विशेषता आ जाती है तो गणिका शब्द से अभिहित हो जाती है। जैसे कहा भी है—

सामान्य वेश्याओं में श्रेष्ठ रूप शील और गुणों से युक्त वेश्या समाज के द्वारा गणिका शब्द की ख्याति को प्राप्त करती है।

जैसे—'तरंगदत्त' की नायिका वेश्या है 'पुष्पदूतिका' और 'मालती माधव' की नायिकाएँ कुलजा हैं तथा 'मृच्छकटिक' की नायिका दोनों (कुलजा और वेश्या) दोनों हैं अर्थात् संकीर्ण है। 'मृच्छकटिक' की नायिका वसन्तसेना जन्म से वेश्या है पर उसका आचरण कुलजा-सा है। वह वेश्या कर्म से घृणा करती है और अपना जीवन एक कुलीन स्त्री नारी की तरह आर्य चारुदत्त से विवाह कर बिताना चाहती है। अतः उसमें दोनों का मिश्रण होने से संकीर्णता है। 'मृच्छकटिक' में धूर्त जुआरी विट चेट आदि भरे हैं। ऐसे संकीर्ण प्रकरण में धूर्त जुआरी विट आदि का वर्णन करना आवश्यक है।

लक्ष्यते नाटिकाप्यत्र संकीर्णान्यनिवृत्तये।

नाटिका—नाटक और प्रकरण से मिश्रित उपरूपक को नाटिका कहते हैं। नाटिका उपरूपकों के १८ भेदों में का प्रथम भेद है। नाटक और प्रकरण के लक्षणों के से यदि कोई समझा जाए तो नाटिका ही एक मात्र संकीर्ण भेद है। अन्य उपरूपक (प्रकरणिका) नहीं। अतः अन्य उप

रूपकों की निवृत्ति के लिए अन्य उपरूपकों के साथ इसे न रखकर नाटक और प्रकरण के बाद ही इसे रखा गया ।

कुछ लोगों का विचार है कि "नाटक और प्रकरण के मिश्रित" नाटिका और प्रकरणिका दो भेद होते हैं पर अगर मिश्रित करके समझा जाए तो प्रसिद्ध नाटिका ही है प्रकरणिका नहीं ।

यद्यपि उपर्युक्त भरतमुनि-विरचित श्लोक की 'नाटी' संज्ञा से काव्य के दो भेद होते हैं । उसमें का एक भेद प्रसिद्ध है जिसे नाटिका शब्द से कहा जाता है और दूसरा भेद प्रकरणिका है । इस प्रकार की व्याख्या कुछ लोग करते हैं सो ठीक है । कारण यह है कि लक्षण और लक्ष्य में दोनों जब तक न मिलें तब तक चीज प्रामाणिक नहीं मानी जाती है । प्रकरणिका कह देने मात्र से उसका अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता है जब तक उसका लक्षण नहीं न घटे ।

नाटिका और प्रकरणिका दोनों का समान लक्षण होने से दोनों में कोई भेद नहीं है । अगर कोई कहे कि प्रकरणिका और प्रकरण में वस्तु, रस और नायक एक ही जैसे होते हैं अतः प्रकरणिका ही मानना ठीक है । तो इसका उत्तर यह है—तो फिर प्रकरण से अतिरिक्त प्रकरणिका को अलग मानना व्यर्थ है क्योंकि दोनों एक ही चीज हैं । इसलिए नाटिका का नाम पृथक् न गिनाने पर भी भरतमुनि ने जो लक्षण किया है उसका अभिप्राय यह है— 'शुद्ध लक्षण के संकर से ही संकीर्ण का लक्षण स्वतः सिद्ध था फिर भी संकीर्ण का लक्षण भरतमुनि ने जो बनाया वह व्यर्थ पड़ता है और व्यर्थ पड़ कर ज्ञापन करता है कि संकीर्णों में यदि किसी की गणना हो तो बस नाटिका की ही ।

नाटक प्रकरण के मेल से कैसे प्रकरणिका बनती है इस बात को बताते हैं—

तत्र वस्तु प्रकरणान्नाटकान्नायको नृपः ॥४३॥
प्रख्यातो धीरललितः शृङ्गारोऽङ्गी सलक्षणः ।

नाटिका का इतिवृत्त प्रकरण से और नायक राजा आदि नाटक से

लेना चाहिए। नायक को ख्यातिवान् तथा सुन्दर लक्षणों से युक्त और ललित होना चाहिए। नाटिका में प्रधान रस शृंगार को ही रखना चाहिए ।।४३।।

नाटक प्रकरण और नाटिका इन तीनों से वस्तु आदि के द्वारा प्रकरणिका में कोई भेद नहीं है। अर्थात् इन तीनों में आनेवाली वस्तुओं के अतिरिक्त प्रकरणिका में कोई भी विशेषता नहीं रह जाती। अतः उसके मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। फिर भी—

स्त्रीप्रायचतुरङ्कादिभेदकं यदि चेष्यते ।।४४।।

एकद्वित्र्यङ्कपात्रादिभेदेनानन्तरूपता ।

यदि कोई इस प्रकार से कहे— 'अंक आदि के भेद से प्रकरणिका को नाटिका से अलग मानना चाहिए, क्योंकि नाटिका में स्त्रियों की प्रधानता रहती है और कैशिकी वृत्ति होती है और विमर्श सन्धि रहित अल्प तथा शेष चारों सन्धियाँ रहती हैं। तो इसका उत्तर यह है कि यदि अंक पात्र आदि के न्यूनाधिक्य से भेद मानने लगेंगे तब तो रूपकों के भेद की कोई सीमा ही नहीं रह जाएगी और ऐसा होने से बड़ा अनर्थ होगा। अतः प्रकरणिका को अलग मानने की कोई आवश्यकता नहीं है ।।४४।।

नाटिका में और कौन-कौनसी विशेषता होती है या रहती है इस बात को बताते हैं—

देवी तत्र भवेज्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा ।।४५।।
गम्भीरा मानिनी कृच्छ्रात्तद्वशान्नेतृसङ्गमः ।
नायिका तादृशी मुग्धा दिव्या चातिमनोहरा ।।४६।।
अन्तःपुरादिसम्बन्धादासन्ना श्रुतिदर्शनैः ।
अनुरागो नवावस्थो नेतुस्तस्यां यथोत्तरम् ।।४७।।
नेता तत्र प्रवर्तेत देवीत्रासेन शङ्कितः ।
कैशिक्यङ्गैश्चतुर्भिश्च युक्ताङ्कैरिव नाटिका ।।४८।।

नाटिका में महारानी राजवंश की प्रगल्भा नायिका होती है। बड़ी ज्येष्ठा होती है। उसका स्वभाव गम्भीर होता है और वह पद-पद पर मान करनेवाली होती है। द्वितीय नायिका भी महारानी के ही वंश परिवार की रहती है और उसके साथ नायक का मिलन कठिनाई के साथ हुआ करता है। नायक की दूसरी नायिका जिसके प्रेम में वह दीवाना बना रहता है वह भी राजकुमारी ही होती है। इसका रूप अत्यन्त सुन्दर और मन को मोह लेनेवाला होता है। अवस्था की दृष्टि से यह मुग्धा होती है। इसका सम्बन्ध राजमहल से लगा रहता है। अन्तःपुर में रहने वाले आदि के देखने-सुनने से आकृष्ट हुआ नायक पहली नायिका महारानी से छिपकर डरते-डरते उससे प्रेम करता है। वह प्रेम उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। कैशिकी वृत्ति के चारों अंगों से नाटिका के चारों अंकों से रचना करनी चाहिए। नाटिका के भीतर चार अंक होने चाहिए ॥४२-४८॥

> भाणस्तु धूर्तचरितं स्वानुभूतं परेण वा।
> यत्रोपवर्णयेदेको निपुणः पण्डितो विटः ॥४९॥
> सम्बोधनोक्तिप्रत्युक्ती कुर्यादाकाशभाषितैः।
> सूचयेद्वीरशृङ्गारौ शौर्यसौभाग्यसंस्तवैः ॥५०॥
> भूयसा भारती वृत्तिरेकाङ्कं वस्तु कल्पितम्।
> मुखनिर्वहणे साङ्गे लास्याङ्गानि दशापि च ॥५१॥

भाण—इसमें केवल एक ही पात्र होता है। यह कोई बुद्धिमान कार्यकुशल विट होता है। यह अपने तथा दूसरे के धूर्ततापूर्ण कार्यों का वर्णन करता है। इसका वर्णन वार्तालाप के रूप में होता है। यह किसी व्यक्ति की कल्पना करके उसको सम्बोधित करके कुछ कहता है और उसकी ओर से कुछ उत्तर दिखाकर फिर अपना उत्तर देता है। इस प्रकार सम्बोधन और उक्ति प्रत्युक्ति के कारण उसकी कल्पित व्यक्ति से बातचीत चलती है। इस प्रकार की बातचीत को 'आकाशभाषित'

कामुकादिवचोवेष षण्डकञ्चुकितापस ॥५५॥
विकृत सकरात्सोऽयं सकीर्ण धूर्तसकुलम् ।
रसस्तु भूयसा कार्य षड्विधो हास्य एव तु ॥५६॥

विकृत प्रहसन—इस प्रहसन में नपुंसक, कञ्चुकी और तपस्वी लोग कामुकों के वेश में तथा कामुकों की तरह बातचीत आदि व्यवहार करते दिखाए जाते हैं ॥५५॥

संकीर्ण—यह धूर्तों से भरा रहता है। इसमें वीथी के तेरहों अंग रहते हैं। वीथी के अंगों की संकीर्णता के कारण ही इसे संकीर्ण कहते हैं। इसमें रस की प्रचुरता रहती है और हास्य के छहों भेद होते हैं ॥५६॥

डिमे वस्तु प्रसिद्धं स्याद्वृत्तय कैशिकीं विना ।
नेतारो देवगन्धर्वयक्षरक्षोमहोरगा ॥५७॥
भूतप्रेतपिशाचाद्या षोडशात्यन्तमुद्धता ।
रसैरहास्यशृङ्गारै षड्भिर्दीप्तै समन्वित ॥५८॥
मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितै ।
चन्द्रसूर्योपरागैश्च न्याय्ये रौद्ररसेऽङ्गिनि ॥५९॥
चतुरङ्कश्चतु सन्धिर्निर्विमर्शो डिम स्मृत ।

डिम—डिम अर्थात् अनेक नायकों का संघात। इसकी कथावस्तु इतिहास-प्रसिद्ध होती है। इसमें कैशिकी के अलावा शेष सभी वृत्तियों का प्रयोग होता है। इसके नेता देवता गन्धर्व यक्ष राक्षस महोरग भूत प्रेत पिशाच आदि सोलह होते हैं। इसमें हास्य और शृंगार के अलावा शेष छहों रसों का भी प्रयोग किया जाता है। यह माया, इन्द्रजाल संग्राम क्रोध उन्मत्त आदि की चेष्टाओं तथा सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण आदि बातों से भरा रहता है। इसमें चार अंक और चार ही सन्धियाँ होती हैं। विमर्श सन्धि इसमें नहीं होती। इसमें प्रधान रस रौद्र रहता है ॥५७-५९॥

'ब्रह्मा ने त्रिपुरदाह में डिम के इस लक्षण की रचना की थी इसलिए त्रिपुरदाह को डिम कहा जाता है। भरतमुनि ने स्वयं त्रिपुरदाह की कथा

वस्तु को डिम की तुलना में दिखलाया है अर्थात् डिम का उदाहरण त्रिपुरदाह है।

ख्यातेतिवृत्तो व्यायोगः ख्यातोद्धतनराश्रयः ॥६०॥
हीनो गर्भविमर्शाभ्यां दीप्ताः स्युर्डिमवद्रसाः ।
अस्त्रीनिमित्तसंग्रामो जामदग्न्यजये यथा ॥६१॥
एकाहाचरितैकाङ्को व्यायोगो बहुभिर्नरैः ।

व्यायोग—इसकी कथा-वस्तु इतिहास-प्रसिद्ध होती है। नायक इतिहास प्रसिद्ध और धीरोद्धत होता है। इसमें गर्भ और विमर्श सन्धि नहीं होती। इसमें डिम के समान ही रसों का सन्निवेश होता है अर्थात् जो रस डिम में होते हैं वही इसमें भी रहते हैं। इसमें के सभी पात्र पुरुष होते हैं। इसमें युद्ध आदि भी स्त्री के लिए नहीं होता। इसमें एक ही अंक होता है और उसमें एक ही दिन का वृत्तान्त रहता है। उदाहरण—

सहस्रार्जुन ने परशुराम के पिता जमदग्नि को मारा। पिता की मृत्यु की खबर सुनकर क्रुद्ध परशुराम ने सहस्रार्जुन को मारा। इसमें (व्यायोग में) पात्रों की बहुलता रहती है।

व्यायोग शब्द का शाब्दिक अर्थ—"जिसमें बहुत पुरुष लगे हुए हों ऐसे कार्य को व्यायोग कहते हैं। इसमें शृंगार और हास्य को छोड़कर शेष सब रसों का परिपाक डिम के सदृश होता है ॥६०-६१॥

समवकार—इसमें नाटक आदि के सदृश आमुख रहना चाहिए। इसकी कथावस्तु देवता और असुरों से सम्बन्धित इतिहास-प्रसिद्ध होती है। विमर्श को छोड़ शेष चारों सन्धियाँ इसमें होती हैं। इसमें सभी वृत्तियों का प्रयोग होता है किन्तु कैशिकी वृत्ति का प्रयोग कम ही मात्रा में होता है। इसके नायक देवता होते हैं और उनकी कुल संख्या बारह होती है। इनका चरित्र उदात्त होता है। साथ ही वे वीर भी होते हैं। इन बारहों नायकों को फल-प्राप्ति भी पृथक्-पृथक् ही होती है। जैसे

वस्तु को डिम की तुलना में दिखलाया है अर्थात् डिम का उदाहरण त्रिपुरदाह है।

ख्यातेतिवृत्तो व्यायोगः ख्यातोद्धतनराश्रयः ॥६०॥
हीनो गर्भविमर्शाभ्यां दीप्ताः स्युर्डिमवद्रसाः ।
अस्त्रीनिमित्तसंग्रामो जामदग्न्यजये यथा ॥६१॥
एकाहाचरितैकाङ्को व्यायोगो बहुभिर्नरैः ।

व्यायोग—इसकी कथा-वस्तु इतिहास-प्रसिद्ध होती है। नायक इतिहास प्रसिद्ध और धीरोद्धत होता है। इसमें गर्भ और विमर्श सन्धि नहीं होती। इसमें डिम के समान ही रसों का सन्निवेश होता है अर्थात् जो रस डिम में होते हैं वही इसमें भी रहते हैं। इसमें के सभी पात्र पुरुष होते हैं। इसमें युद्ध आदि भी स्त्री के लिए नहीं होता। इसमें एक ही अङ्क होता है और उसमें एक ही दिन का वृत्तान्त रहता है। उदाहरणार्थ—

सहस्रार्जुन ने परशुराम के पिता जमदग्नि को मारा। पिता की मृत्यु की खबर सुनकर प्रकुपित परशुराम ने सहस्रार्जुन को मारा। इसमें (व्यायोग में) पात्रों की बहुलता रहती है।

व्यायोग शब्द का शाब्दिक अर्थ—"जिसमें बहुत पुरुष लगे हुए हों ऐसे कार्य को व्यायोग कहते हैं। इसमें शृङ्गार और हास्य को छोड़कर शेष सब रसों का परिपाक डिम के सदृश होता है ॥६०-६१॥

समवकार—इसमें नायक आदि के सदृश आमुख रहना चाहिए। इसकी कथावस्तु देवता और असुरों से सम्बन्धित इतिहास-प्रसिद्ध होती है। विमर्श को छोड़ शेष चारों सन्धियाँ इसमें होती हैं। इसमें सभी वृत्तियों का प्रयोग होता है किन्तु कैशिकी वृत्ति का प्रयोग अल्प ही मात्रा में होता है। इसके नायक देवता होते हैं और उनकी कुल संख्या बारह होती है। इनका चरित्र उज्ज्वल होता है। साथ ही ये वीर भी होते हैं। इन बारहों नायकों की फल-प्राप्ति भी पृथक्-पृथक् ही होती है। जैसे

वाचा युद्ध विधातव्य तथा जयपराजयौ ।

अंक या उत्सृष्टिकांक—इसकी कथावस्तु प्रसिद्ध पर कवि-कल्पना द्वारा अति विस्तृत की हुई रहती है। इसमें स्त्रियों के विलाप आदि का वर्णन रहता है। इसमें करुण रस की प्रधानता रहती है। इसका नायक साधारण पुरुष होता है। जय और पराजय आदि का वर्णन इसमें रहता है। युद्ध केवल वाणी द्वारा प्रदर्शित किया जाता है अर्थात् इसमें केवल वाग्युद्ध दिखाया जाता है। और बातें जैसे संधि वृत्ति और अंग इनको भाण के समान ही समझना चाहिए ॥७०-७१॥

मिश्रमीहामृगे वृत्त चतुरङ्क त्रिसन्धिमत् ॥७२॥
नरदिव्यावनियमान्नायकप्रतिनायकौ ।
ख्यातौ धीरोद्धतावन्त्यो विपर्यासादयुक्तकृत् ॥७३॥
दिव्यस्त्रियमनिच्छन्तीमपहारादिनेच्छतः ।
शृङ्गाराभासमप्यस्य किञ्चित्किञ्चित्प्रदर्शयेत् ॥७४॥
संरंभ परमानीय युद्ध व्याजान्निवारयेत् ।
वधप्राप्तस्य कुर्वीत वध नैव महात्मनः ॥७५॥

ईहामृग—इसमें चार अंक तथा मुख प्रतिमुख और निर्वहण ये तीन सन्धियाँ होती हैं। इसके नायक और प्रतिनायक इतिहास-प्रसिद्ध मनुष्य और देवता होते हैं। इनकी प्रकृति धीरोद्धत होती है। प्रतिनायक दिव्यनायिका को चाहता है और जब वह उसे आसानी से प्राप्त नहीं होती तो हरण करने पर तुल जाता है। इसमें शृंगार रस का भी वर्णन थोड़ा-थोड़ा होना चाहिए। इसमें युद्ध की सब तरह से तैयारी हो चुकने पर भी किसी बहाने से टल जाती है अर्थात् युद्ध होते-होते बच जाता है। प्रकरणतः इसमें महापुरुष का वध यदि प्राप्त भी हो तो भी कदापि प्रदर्शित नहीं करना चाहिए। इसमें नायक हरिणी के समान अलभ्य नायिका को चाहता है अतः इसे ईहामृग कहते हैं ॥७२-७५॥

हरण जैसे—शत्रु के नगर घेरने या आक्रमण करने के कारण भगदड़ आदि का होना।

दूसरे का उदाहरण जैसे—जल वायु, अग्नि आदि के द्वारा बाढ़ आ जाना वर्षा का न होना आग लग जाना आदि। तीसरे का उदाहरण जैसे—हाथी आदि के छूटने आदि से उत्पन्न उपद्रव का होना।

इसी प्रकार शृंगार भी तीन प्रकार का होता है—१ धर्म शृंगार २ अर्थ शृंगार और ३ काम शृंगार।

ऊपर बताए हुए तीनों प्रकार के विद्रव तीनों प्रकार के कपट और तीनों प्रकार के शृंगार के भेदों को क्रमशः समवकार के तीनों अंकों में रखना चाहिए।

समवकार शब्द का शाब्दिक अर्थ है "सब नायकों के प्रयोजन का एकत्र रहना। चूँकि समवकार रूपक में कई नायकों का प्रयोजन निहित रहता है, अतः इसे भी समवकार कहते हैं।

वीथी तु कैशिकीवृत्तौ सन्ध्यङ्गाङ्कैस्तु भाणवत् ॥६८॥
रसः सूच्यस्तु शृङ्गारः स्पृशेदपि रसान्तरम्।
युक्ता प्रस्तावनाख्यातैरङ्गैरुद्धात्यकादिभिः ॥६९॥
एवं वीथी विधातव्या द्व्येकपात्रप्रयोजिता।

वीथी—इसमें कैशिकी वृत्ति होती है। सन्धियाँ और उनके अंग तथा अंक भाण के समान ही होते हैं। इसमें अन्य रसों का किंचित् स्पर्श रहते हुए भी प्रधानता शृंगार रस की ही रहती है। इसमें पात्र दो या एक होते हैं। पहले प्रस्तावना के भीतर जो वीथी के उद्घात्यक, अवलगित आदि अंग गिनाए हैं वे सभी इसमें होते हैं ॥६ ६९॥

उत्सृष्टिकाङ्के प्रख्यातं वृत्तं बुद्ध्या प्रपञ्चयेत् ॥७ ॥
रसस्तु करुणः स्थायी नेतारः प्राकृता नराः।
भाणवत्सन्धिवृत्त्यङ्गान्युक्तः स्त्रीपरिदेवितैः ॥७१॥

चतुर्थ प्रकाश

अब यहाँ से रस के भेदों को बताते हैं—

> विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः ।
> आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायीभावो रसः स्मृतः ॥१॥

विभाव, अनुभाव, सात्त्विकभाव और व्यभिचारी भावों के द्वारा परिपुष्टावस्था (स्वाद्यता) को प्राप्त किया हुआ स्थायीभाव रस कहा जाता है ।१।।

आगे वर्णन किए जाने वाले विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी और सात्त्विक भावों के द्वारा काव्य में वर्णन और अभिनय में प्रदर्शन देख काव्य पढ़नेवाले और अभिनय देखनेवाले सामाजिकों के अपने हृदय में रहनेवाले स्थायीभाव (जिसका वर्णन आगे किया जाएगा) जब स्वाद करने के योग्य हो जाते हैं तो उन्हें रस की संज्ञा दी जाती है। स्वाद के योग्य बन जाने का अभिप्राय यह है कि काव्य पढ़ने और सुननेवालों और अभिनय देखनेवालों के चित्त में केवल आनन्द-ही-आनन्द रह जाता है।

यह परमानन्द काव्य और नाटक पढ़ने, सुनने और देखनेवाले सामाजिकों में हुआ करता है इसलिए सामाजिक रसिक कहे जाते हैं। इस प्रकार का आनन्द केवल चेतन के ही अन्दर हो सकता है। अचेतन काव्य आदि में वह रह नहीं सकता। काव्य तो रस के पैदा करने में कारण होता है न कि वह स्वयं ही रस है। 'रसवत् काव्यम्' 'रसवान् काव्य है' इन वाक्यों में रसयुक्त काव्य का जो कथन है वह लाक्षणिक है। जैसे घृत की आयुर्वृद्धि में कारणता देख लोग 'आयुर्घृतम्' इस प्रकार

इत्थं विचिन्त्य दशरूपकलक्ष्ममार्ग
मालोक्य वस्तु परिभाव्य कविप्रबन्धान् ।
कुर्यादयत्नवदलंकृतिभिः प्रबन्धं
वाक्यैरुदारमधुरैः स्फुटमन्दवृत्तैः ॥७६॥

॥ धनञ्जयकृत दशरूपक का तृतीय प्रकाश समाप्त ॥

इस प्रकार दशरूपकों के दसों भेदों के लक्षणों और उनके निर्माण के ढंग और वस्तु देखकर तथा महाकवियों की रचनाओं का अध्ययन करके सरल छन्दों में कृत्रिमता रहित अलंकारों, उदार मधुर वाक्यों आदि के द्वारा प्रबन्ध की रचना होनी चाहिए ॥७६॥

विष्णुपुत्र धनिककृत दशरूपावलोक नामक व्याख्या का नाटक-प्रकाश नामक तृतीय प्रकाश समाप्त ।

आलम्बन विभाव का उदाहरण जैसे 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में पुरूरवा उर्वशी को देखकर कहता है— 'इसकी सृष्टि करने के लिए कौन प्रजापति (उत्पादक) हुआ होगा ? कान्ति का दाता चन्द्रमा अथवा शृंगार रस का एकमात्र रसिक स्वयं कामदेव किंवा वसन्त ऋतु ? क्योंकि वेद पढ़ने से जड़ और विषयों से जिसका कुतूहल शान्त हो गया है वह पुराना मुनि ब्रह्मा भला इस मनोहर रूप को कैसे बना सकता है ?

उद्दीपन विभाव का उदाहरण जैसे— 'जिसकी चाँदनी ने सारा विश्व धोकर स्वच्छ कर दिया गया है और जिसकी प्रभा से सम्पूर्ण आकाशमण्डल कपूर के समान धवलित हो गया है तथा जिसकी चाँदी के सीधे-सीधे स्वच्छशलाका की स्पर्धा रखनेवाले चरणों (किरणों) द्वारा यह विश्व कमलदंड के बने हुए पिंजड़े के भीतर रखे हुए के समान प्रतीत होता है, ऐसे चन्द्रमा का उदय हो रहा है।

अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः ।

अनुभाव—(१) आन्तरिक भावों की सूचना जिनसे मिलती है ऐसे (भ्रू कटाक्ष विक्षेप आदि) विकारों को अनुभाव कहते हैं।

(२) सामाजिकों को स्थायीभाव का अनुभव कराते हुए जो रस को परिपुष्ट करें ऐसे भौंहों का चलाना और कटाक्ष विक्षेप करने आदि को अनुभाव कहते हैं। ये रसिकों के साक्षात् अनुभवकर्म के द्वारा अनुभव किए जाते हैं इसलिए इनको अनुभाव कहते हैं।

(३) रति आदि स्थायीभावों के पश्चात् इनकी उत्पत्ति होती है अतः इनको अनुभाव कहते हैं।

आन्तरिक भावों की सूचना जिससे मिलती है ऐसे भ्रूकटाक्ष आदि विकारों को अनुभाव कहते हैं। अनुभाव की यह परिभाषा जो दी गई है वह लौकिक रस की दृष्टि से की गई है। पर काव्य नाटकों के अलौकिक रसों के प्रति इन भ्रूकटाक्ष आदि की कारणता मात्र ही होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि लोक में भ्रूकटाक्ष विक्षेप आदि ही अनुभाव हैं। नाटक आदि में अभिनय करनेवाले नट इत्यादि के भ्रूकटाक्ष विक्षेप आदि से

का प्रयोग करते हैं, ठीक उसी तरह से रस के विषय में भी 'रसवान् काव्य है' इस प्रकार का व्यवहार होता है। वस्तुतः काव्य रसवान् नहीं होता बल्कि होते हैं सामाजिक।

ज्ञायमानतया तत्र विभावो भावपोषकृत् ।
आलम्बनोद्दीपनत्वप्रभेदेन स च द्विधा ॥२॥

विभाव—ज्ञान के विषयीभूत हो जो भावों का ज्ञान कराएँ और भावों को परिपुष्ट करें उन्हें विभाव कहते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं—१ आलम्बन और २ उद्दीपन ॥२॥

यह ऐसा ही है, यह ऐसी ही है' इस प्रकार का अतिशयोक्ति रूप में किया गया जो वर्णन और उससे उत्पादित विशिष्ट रूप से ज्ञायमान जो आलम्बन रूप नायक और नायिका और उद्दीपन रूप जो देश काल आदि उनको विभाव कहते हैं।

विभाव का ज्ञायमान अर्थ में जो व्यवहार किया गया है, इसमें प्रमाण है—भरत मुनि का "विभाव इति विज्ञातार्थ इति" यह वाक्य। इन वाक्यों को यथाक्रम उनके अवसर आने पर रसों में दिखाया जाएगा।

[क्या विभावादिकों में वस्तुशून्यता है ?]

बाह्य सत्त्वों की अपेक्षा न रखनेवाले इन विभाव आदि का शब्द की उपाधि के बल से उन भावों का सामान्य रूप से अपने-अपने सम्बन्धियों के द्वारा साक्षात् भावकों के चित्त में स्फुरण कराने से आलम्बनत्व उद्दीपनत्व होता है। अतः इसमें वस्तुशून्यता का कोई स्थान ही नहीं है। इसी बात को भर्तृहरि ने भी कहा है—

शब्द की उपाधि से प्राप्त स्वरूप वाले जो विभाव आदि हैं वे बुद्धि के विषयीभूत होकर कंस राम दुष्यन्त आदि को प्रत्यक्ष के समान ज्ञान कराने के कारण होते हैं।

षट्सहस्रीकार ने भी 'ये विभाव आदि साधारणीकरण के द्वारा रस निष्पादन में साधन होते हैं' इस प्रकार से लिखा है।

नायक और नायिका में अन्तर्गत होनेवाले अनुभाव का अनुमान किया जाता है। इसलिए अलौकिक रस की दृष्टि में भ्रूक्टाक्ष विभ्रम आदि की केवल भावना है। लोक में ऐसी बात नहीं होती वहाँ तो नायक और नायिका प्रत्यक्ष ही रहते हैं अतः अनुमान करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। अनुभाव का उदाहरण जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य—कोई दूती किसी यौवनवती सुन्दरी नायिका से उसके रूप-सम्पदा की प्रशंसा करते हुए कहती है— हे सुन्दरि तेरे मुँह पर बार-बार जँभाई आ रही है स्तन भाग बार-बार उल्लसित हो रहे हैं चंचल भौंहें बार-बार घूम रही हैं सारा शरीर पसीने से लथपथ हो रहा है अत्यधिक उत्सुकता के कारण लज्जा दूर हो गई है सारे शरीर में रोमांच का प्रादुर्भाव हो गया है तू जिसके ऊपर क्षीरसिन्धु के स्वच्छ फेन के सदृश अपनी सुन्दर स्वच्छ कटाक्ष छटा को फेरती है वह कोई अत्यन्त सुन्दर परम सौभाग्यशाली युवक धन्य है।

इत्यादि बातों को रसों के प्रसंग में उदाहरणों के द्वारा क्रमानुसार स्पष्ट किया जाएगा।

हेतुकार्यात्मनो सिद्धिस्तयो संव्यवहारत ॥३॥

लौकिक रस के प्रति विभाव और अनुभाव का आपस में हेतु और कार्य-सम्बन्ध है, अर्थात् लौकिक रस के प्रति विभाव तो हेतु और अनुभाव कार्य होता है। ये बातें व्यवहार से व्यक्त होती हैं। इसीलिए इनका लक्षण दे सकना देना ठीक नहीं है ॥३॥

कहा भी है— 'विभाव और अनुभाव लोक में ही सिद्ध हैं वे दिन-रात लौकिक व्यवहारों में आया करते हैं और लौकिक व्यवहारों के द्वारा जाने जा सकते हैं इसलिए इनका पृथक लक्षण नहीं किया जा रहा है।

सुखदु खादिकैर्भावैर्भावस्तद्भावभावनम् ।

भाव—अनुकार्य (राम आदि) को साधन बनाकर वर्णित सुख-दु ख भावों के द्वारा भावक के चित्त के अन्तर्वर्ती तद्-तद् भावों के भावन को ही भाव कहते हैं।

विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः ।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ ॥७॥

व्यभिचारी का सामान्य लक्षण—जैसे समुद्र में तरंगें उठती हैं और उसी में विलीन होती रहती हैं उसी प्रकार से रति आदि स्थायीभावों में जो भाव उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं उनको व्यभिचारीभाव कहते हैं ॥७॥

निर्वेदग्लानिशङ्काश्रमधृतिजडताहर्षदैन्योग्र्यचिन्ता
स्त्रासेर्ष्यामर्षगर्वाः स्मृतिमरणमदाः सुप्तनिद्राविबोधाः ।
व्रीडापस्मारमोहाः समतिरलसतावेगतर्कावहित्था
व्याध्युन्मादौ विषादोत्सुकचपलयुतास्त्रिंशदेते त्रयश्च ॥८॥
तत्त्वज्ञानापदीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम् ।
तत्र चिन्ताश्रुनिःश्वासवैवर्ण्योच्छ्वासदीनताः ॥९॥

ये ३३ प्रकार के होते हैं—१ निर्वेद २ ग्लानि ३ शंका ४ श्रम ५ धृति ६ जड़ता ७ हर्ष ८ दैन्य ९ उग्रता १० चिन्ता ११ त्रास १२ असूया १३ अमर्ष १४ गर्व १५ स्मृति १६ मरण १७ मद १८ स्वप्न १९ निद्रा २० विबोध २१ व्रीड़ा २२ अपस्मार २३ मोह २४ मति २५ अलसता २६ आवेग २७ तर्क २८ अवहित्था २९ व्याधि ३० उन्माद ३१ विषाद ३२ औत्सुक्य और ३३ चपलता ॥८॥

निर्वेद—तत्त्वज्ञान आपत्ति ईर्ष्या आदि कारणों से मनुष्य का अपनी अवमानना करना निर्वेद कहलाता है ॥९॥

इसमें मनुष्य अपने शरीर तथा सभी लौकिक पदार्थों की अवहेलना करने लगता है। इस दशा में चिन्ता निःश्वास उच्छ्वास अश्रु-विवर्णता और दैन्य ये लक्षण प्रकट होते हैं।

तत्त्वज्ञान से होने वाला निर्वेद जैसे—

'अगर हमने समस्त मनोरथों को सिद्ध करनेवाली लक्ष्मी को ही प्राप्त कर लिया तो उससे क्या हुआ? अगर हमने समस्त रिपुमण्डली

तो हठात् उसकी आँखों से आँसू गिरने लगते हैं। इसलिए सत्त्व से उत्पन्न होने के कारण इन्हें सात्त्विक कहा जाता है। अथ प्रकृति जो भाव हैं उनकी ये स्थितियाँ होती हैं। यदि ये किसी मानसिक भाव की सूचना देनेवाले हों तो अनुभाव अन्यथा सात्त्विक भाव है।

सात्त्विक भाव आठ प्रकार के होते हैं—

१ स्तम्भ २ प्रलय ३ रोमांच ४ स्वेद ५ वैवर्ण्य ६ वेपथु ७ अश्रु और ८ वैस्वर्य (स्वर भंग)।

स्तम्भप्रलयरोमाञ्चाः स्वेदो वैवर्ण्यवेपथू ॥५॥
अश्रुवैस्वर्यमित्यष्टौ स्तम्भोऽस्मिन्निष्क्रियाङ्गता।
प्रलयो नष्टसंज्ञत्वं शेषाः सुव्यक्तलक्षणाः ॥६॥

१ स्तम्भ—इन्द्रियों के सारे व्यापार के अचानक रुक जाने का नाम स्तम्भ है।

२ प्रलय—मूर्च्छा को प्रलय कहते हैं जिसमें प्राणी चैतन्यरहित हो जाता है। उसकी चेतना जाती रहती है॥ ५ ६॥

और भेदों को बताने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि उनके नाम ही उनके लक्षण को समझाने में समर्थ हैं।

सबका उदाहरण एक ही पद्य में जैसे—कोई दूती किसी नायक को उसके विरह में होनेवाली अपनी सखी की पीड़ा का वर्णन करती हुई कोस रही है— पसीने से लथपथ शरीरवाली वह मेरी सखी बार-बार तेरी बात पर काँप रही है उसका सारा शरीर रोमांचित हो रहा है इसका बल उसके हाथ के सुन्दर निभावट खिसककर धीरे धीरे आवाज कर रहे हैं मुख उसका काला पड़ रहा है, मूर्छा बार-बार आ रही है और कहाँ तक उसकी पीड़ा का वर्णन करूँ बस केवल इतनी ही बात है समझ सकते हो कि मोती-जानी को उसकी सुखरूपी लता है वह अब धैर्य धारण करने में असमर्थ है।

किसी पथिक ने रास्ते में खिन्न खड़े पापात्क (सिहोर) के वृक्ष से पूछा—'भाई तुम कौन हो ?' उसने उत्तर दिया— (पूछ ही बैठे हो तो) सुनो मैं दैव का मारा सिहोर का वृक्ष हूँ। यह सुनकर पथिक ने फिर पूछा— तुम तो विरक्त के समान बोलते हो ? उसने उत्तर दिया— 'आपका कथन सत्य है। फिर पथिक ने पूछा—'इसका (वैराग्य का) क्या कारण है ? उधर से उत्तर आया—'यदि आपको मेरे वैराग्य के बारे में जानने की अति उत्कण्ठा है तो सुनिए—कारण यह है कि मेरे पास ही थोड़ी दूर पर एक वट का वृक्ष है। उसके यहाँ दिन-रात पक्षियों का जमघट लगा रहता है और एक मैं अभागा हूँ कि अपनी छाया के द्वारा दूसरे के उपकार के लिए रास्ते में ही सदा प्रस्तुत रहता हूँ पर मेरे यहाँ कोई आता तक नहीं है (यही मेरे वैराग्य का कारण है।)

विभाव अनुभाव और रस के प्रभाव के भेदोपभेद से निर्वेद के अनेक प्रकार होते हैं।

रत्यायासातृट्क्षुद्भिर्ग्लानिर्निष्प्राणतेह च ।
वैवर्ण्यकम्पानुत्साहक्षामाङ्गवचनक्रिया ॥१०॥

ग्लानि—रतिक्रीड़ा के अभ्यास से भूख प्यास परिश्रम आदि कारणों से जो उदासीनता आ जाती है उसे ग्लानि कहते हैं। इसमें विवर्णता कम्प अनुत्साह आदि अनुभाव दीख पड़ते हैं ॥१० ॥

जैसे माघ का यह पद्य—

"और ये भरी हुई मेघ वनीनिरापा में गुणासिन (चन्द्रमावाली) रजनीपक्ष में खीन गुण (काम) वाली कामिनियाँ रात्रि की तरह झुके हुए कैमरान (प्रकाश की तरह) से धुमित बनी राजा के घर से लौटे जा रही है।"

और बातों का निवेदन में ही समान समझना चाहिए।

मनोदैन्यतिमा द्रावुः परकर्मस्त्यनुमतात ।
कल्पनोपायभिलोषादित्र बहुधकारणयता ॥११॥

शंका—दूसरे की क्रूरता या अपने ही दुर्व्यवहारों से अपनी इष्ट हानि की जो आशंका पैदा होती है उसे शंका कहते हैं। इसमें शरीर का कांपना और सूखना, चिन्तायुक्त दृष्टि-विक्षेप, विवर्णता और स्वर-भेद आदि लक्षण लक्षित होते हैं ॥११॥

दूसरे की क्रूरता के कारण होनेवाली शंका जैसे 'रत्नावली' नाटिका मे महाराज उदयन रत्नावली के बारे मे कह रहे हैं—"वह इस बात से शंकित रहती हुई कि कहीं ये लोग राजा के साथ चलनेवाले मेरे प्रेम-बर्ताव को जानते न हो लज्जावश मुँह को छिपाए रहती है। और जब दो या तीन लोगो को आपस मे बातचीत करते हुए देखती है तो सोचती है कि शायद वे लोग हमारे ही विषय में कानाफूसी न करते हो। इसी प्रकार से हँसती हुई सखियो को देख भी वह शंकित हो जाती है कि वे सब मेरे उसी सम्बन्ध मे हँस रही हैं। इस प्रकार से मेरी प्रियतमा रत्नावली (सागरिका) हृदय-प्रदेश मे रखे हुए आतंक से पीड़ा पा रही है।

अपने दुर्व्यवहार से होनेवाली शंका जैसे 'महावीरचरित' मे—जिसने पर्वताकार शरीरवाले मारीच ताड़का सुबाहु आदि राक्षसो का संहार किया है वही राजकुमार मेरे हृदय के लिए सन्तापकारी हो गया है।

इसी प्रकार से अन्यों को भी समझ लेना चाहिए।

श्रम: स्वेदोऽध्वरत्यादेः स्वेदोऽस्मिन्मर्दनादयः।

श्रम—यात्रा रति आदि कारणों से जो थकावट उत्पन्न होती है उसे श्रम कहते हैं। इसमे पसीना आना अवयवों में दर्द आदि का होना आदि कार्य होते हैं।

रास्ते के परिश्रम से होनेवाला श्रम जैसे 'उत्तररामचरित' मे—राम सीता से कहते हैं—तुम मार्ग मे चलने के परिश्रम से आलस्ययुक्त कोमल और सुन्दर इन आलिंगनों से ढीले पड़ और परिमर्दित कमल की नलिका के सदृश दुर्बल अंगो को मेरी छाती पर रखकर सो गई थी।

खिसाने लगी और साथ ही अति आदरवश अपने आँचल से उस ऊँट के बच्चे के कंधों पर लगी हुई धूल को धीरे-धीरे पोंछने लगी।

निर्वेद की तरह इसकी (दूर्य की) और बातों को भी जान लेना चाहिए।

दौर्गत्याद्यैरनौजस्यं दैन्यं काष्र्ण्यामृजादिमत् ॥१४॥

दैन्य—दरिद्रता और तिरस्कार आदि से होनेवाली चित्त की उस हीनता का नाम दैन्य है। इस दशा में मनुष्य के चेहरे का रंग फीका पड़ जाता है और वस्त्रों की मलिनता आदि बातें देखी जाती हैं ॥१४॥

जैसे कोई वृद्धा सास कहती है—"मेरे पति एक तो वृद्ध दूसरे अन्धे ठहरे अतः केवल मचान पर ही पड़े रहते हैं उनसे धनोपार्जन का अब पुरुषार्थ रह नहीं गया है। घर में केवल धूल ही मात्र बच गया है। और इधर बरसात का समय भी आ गया है। लड़का कमाने के लिए परदेश गया पर कुछ भेजना तो दूर की बात रही अभी तक उसने कोई चिट्ठी-पत्री भी नहीं भेजी। बड़े यत्न से साथ मैंने एक गगरी तेल भरके रखा रहा सो भी दैव दुर्विपाक से फूटकर बह निकला अब क्या करूं?" कवि कहता है कि सास अपनी धर्मभार से अलसाई हुई पुत्रवधू को देख ऊपर कथित बातों को सोच-सोचकर बहुत देर से रो रही है।

और बातों को पहले ही के समान समझना चाहिए।

दुष्टेऽपराधदौर्मुख्यक्रौर्यैश्चण्डत्वमुग्रता ।
तत्र स्वेदशिरःकम्पतर्जनाताडनादयः ॥१५॥

उग्रता—किसी दुष्ट के दुष्कर्म दुर्वचन क्रूरता आदि से स्वभाव के प्रचण्ड हो जाने को उग्रता कहते हैं। इसमें स्वेद का आना कटुवचन बोलना सिर कँपना दूसरे को मारने पर उतारू होना और तर्जनता आदि पाया जाता है ॥१५॥

जैसे 'महावीरचरित' में परशुराम—"क्षत्रियों पर क्रुद्ध हो मैंने इक्कीस बार उनका संहार किया और संहार करते समय उनके गर्भ में

करते हैं। इसमें पलकों का न गिरना और मूक हो जाना आदि लक्षण दिखाई देते हैं ॥१३॥

इष्ट दर्शन से होनेवाली जड़ता जैसे 'कुमारसम्भव' में—

"पार्वतीजी को सखियाँ उन्हें सिखाया करतीं कि देखो सखि डरना मत और जैसे-जैसे हम सिखाती हैं वैसे-ही-वैसे तुम भी शंकरजी के साथ करना पर इतने सीखने-पढ़ने के बाद भी वे शिवजी के सामने पहुँचते ही घबरा जाती और सखियों की सब सीख उनके ध्यान से उतर जाती थी।"

अनिष्ट के श्रवण से होनेवाली जड़ता, जैसे 'उदात्तराघव' नाटक में—

"राक्षस—ऐसे-ऐसे वीर राक्षसों को जिनके सेनापति अतिबल योद्धा खरदूषण त्रिशिर आदि थे किसने मारा?

दूसरा—धनुर्धारी नीच राम ने।

दूसरा—बिना देखे भला किसको विश्वास आया? देखो हमारी सेना की दशा—बीच कटे हुए सिरवाले मुर्दों का समूह रक्त में डूबा हुआ पड़ा है तथा उनके कबन्धों का ढेर ताड़ इतना ऊँचा दिखाई पड़ रहा है।

प्रथम—मित्र यदि ऐसी बात है तो फिर हम लोगों के लिए क्या करना उचित है? इत्यादि।

प्रसत्तिरुत्सवादिभ्यो हर्षोऽश्रुस्वेदगद्गदाः।

हर्ष—प्रिय का आगमन, पुत्रजन्म इत्यादि उत्सवों से चित्त के प्रसन्न हो जाने का नाम हर्ष है।

इसमें आँखों में आँसू का आ जाना, पसीना निकलना, गद्गद वचन बोलना इत्यादि अनुभाव परिलक्षित होते हैं। जैसे—

"गोपिन स्त्री का पति जब ऊँट की सवारी से उसके पास पहुँचा तो वह नारी खुशी से आँखों में प्रेमजल भरके पति के वाहन की सेवा में यह सोचकर लग गई कि इसी ने प्रियतम को इस विशाल मरुभूमि को पार करने में सहायता की है। फिर क्या था वह मस्ती में पीलु, शमी तथा करीर के पत्तों को तोड़-तोड़कर बाड़ बना-बनाकर

जिसमें सभी और साथ ही अति-आदरवश अपने आँचल से उस ऊँट के बच्चे के कंधों पर लगी हुई धूल को धीरे धीरे पोंछने लगी।"

निर्वेद की तरह ग्लानि (हर्ष आदि) और बातों को भी जान लेना चाहिए।

दौर्गत्याद्यैरनौजस्यं दैन्यं काष्र्ण्यामृजादिमत् ॥१४॥

दैन्य—दरिद्रता और तिरस्कार आदि से होनेवाली चित्त की दशा दीनता का नाम दैन्य है। इस दशा में मनुष्य के चेहरे का रंग फीका पड़ जाता है और वस्त्रों की मलिनता आदि बातें देखी जाती हैं ॥१४॥

जैसे कोई वृद्धा सोच रही है—'मेरे पति एक तो वृद्ध दूसरे अन्धे टूटा खाट केवल मचान पर ही पड़े रहते हैं उनमें धनोपार्जन का अब पुरुषार्थ रह नहीं गया है। घर में केवल एक ही खम्भा बच पाया है। और इधर बरसात का समय भी आ गया है। लड़का कमाने के लिए परदेश गया पर कुछ भेजना तो दूर की बात रही अभी तक उसने कोई चिट्ठी-पत्री भी नहीं भेजी। बड़े यत्न के साथ मैंने एक गगरी तेल भरके रखा रहा सो भी दैव दुर्विपाक से फूटकर बह निकला अब क्या करूँ'? कवि कहता है कि सास अपनी गर्भभार से अलसाई हुई पुत्रवधू को देख ऊपर कथित बातों को सोच-सोचकर बहुत देर से रो रही है।

और बातों को पहले ही के समान समझना चाहिए।

दुष्टेऽपराधदौर्मुख्यक्रौर्यैश्चण्डत्वमुग्रता ।
तत्र स्वेदशिरःकम्पतर्जनाताडनादयः ॥१५॥

उग्रता—किसी दुष्ट के दुष्कर्म दुर्वचन क्रूरता आदि से स्वभाव के प्रचण्ड हो जाने को उग्रता कहते हैं। इसमें स्वेद का आना अनुचित बोलना सिर कँपना दूसरे को मारने पर उतारू होना और तर्जनता आदि पाया जाता है ॥१५॥

जैसे 'महावीरचरित' में परशुराम—"क्षत्रियों पर प्रकुपित हो मैंने इक्कीस बार उनका संहार किया और प्रहार करते समय उनके मर्म में

पड़े हुए बच्चों को भी कुरेद-कुरेदकर मार डाला और क्षत्रियों के रक्त से भरे हुए तालाबों में मैंने अपने पिता के श्राद्ध संस्कार को सम्पन्न किया। इस प्रकार के मेरे कर्मों को देखते हुए भी मेरा स्वभाव क्या अभी तक प्राणियों से अविदित ही है ?

ध्यानं चिन्तेहितानाप्तेः शून्यताश्वासतापकृत् ।

चिन्ता—इष्ट वस्तु के न प्राप्त होने पर उसीके विषय में ध्यान बने रहने का नाम चिन्ता है। इसमें पदार्थ के न मिलने से जीवन का शून्य मालूम होना, साँस का जोर से चलना शारीरिक ताप का बढ़ जाना आदि बातें पाई जाती हैं।

चिन्ता—जैसे कोई दूती प्रियतम के वियोग से दुःखी किसी प्रोषित-पतिका से कह रही है—"हे बड़ी-बड़ी आँखोंवाली तुम अपनी पलकों के अग्रभाग में मोती की स्पर्धा करनेवाले स्वच्छ आँसुओं को भरकर और हृदय में भगवान् शंकर की हँसी के समान स्वच्छ मनोहर हारों को पहनकर, तथा कोमल-कोमल कमलनाल के वलय (विजायठ) वाले अपने सुन्दर हाथों के ऊपर मुख को रखकर किस परम सौभाग्यशाली के विषय में सोच रही हो ?

अथवा यह दूसरा उदाहरण—

'छूट गया है विषय-वासनाओं से मन जिनका और बन्द हो गए हैं कमल के समान नेत्र जिनके बार-बार चल रही है श्वास-प्रश्वास क्रिया जिनमें इस प्रकार की अलक्ष्य वस्तु का ध्यान करनेवाली बाला की दशा योगी के समान हो गई। [योगियों की तरह नेत्रों को मूँदकर बार बार सिसकती हुई एकमात्र प्रियतम के विषय में सोच रही है।]

गर्जितादेर्मनःक्षोभस्त्रासोऽत्रोत्कम्पितादयः ॥१६॥

त्रास—बादल के गर्जन तथा ऐसी ही अन्य भयप्रद घटनाओं से जो क्षोभ उत्पन्न होता है उसे त्रास कहते हैं। इसमें कम्प आदि का पाया जाना देखा जाता है ॥१६॥

यथा माघ में—

बकुल पोठी (प्रोष्ठी) मछली किसी सुन्दरी के उस मुख में एक बार छू गई। डरकर वह रमणी नाना प्रकार की भंगिमायें दिखाने लगी। आश्चर्य है कि रमणियाँ बिना कारण विलासलीला में मुग्ध हो जाती हैं तो फिर कोई कारण मिल जाय तो फिर क्या कहना ?

परोत्कर्षाक्षमासूया गर्वदौर्जन्यमन्युजा।

दोषोक्त्यवज्ञे भ्रुकुटिमन्युक्रोधेङ्गितानि च ॥१७॥

असूया—दूसरे की उन्नति न सह सकने का नाम असूया है। इसमें दूसरे के अन्दर दोष निकालना अथवा क्रोध भौंह का चढ़ना तथा अन्य क्रोधसूचक चेष्टाएँ दिखाई देती हैं। यह तीन कारणों से हो सकती है १ गर्व से २ दुष्ट स्वभाव से तथा ३ क्रोध से ॥१७॥

गर्व से होनेवाली असूया जैसे 'वीरचरित' में—कोई राक्षस किसी से कह रहा है—

मेरे स्वामी रावण ने सीतारूपी फल की प्राप्ति के लिए भिक्षुक बनकर याचना की थी पर वह वस्तु न मिलकर स्वामी के विरुद्ध आचरण करनेवाले राम को मिल गई। अब यह बात समझ में नहीं आती कि शत्रु के मान और यश की वृद्धि और अपने ह्रास को तथा स्त्रियों में रत्न उस सीता को दूसरे के हाथ में देख संसार के स्वामी रावण कैसे बर्दाश्त कर सकेंगे।

दुष्ट स्वभाववश होनेवाली असूया जैसे—

"यदि तुम्हें दूसरे के गुणों को देख ईर्ष्या पैदा होती है तो फिर गुणों का ही उपार्जन क्यों नहीं करता ? हाँ इतना समझ रखो कि तुम दूसरे के यश को निन्दा के द्वारा धो नहीं सकते। अगर तुमने अपनी इच्छा से अकारण ही दूसरे से द्वेष करना नहीं छोड़ा तो तुम्हारा परिश्रम वैसे ही बेकार हो जाएगा जैसे सूर्य की किरणों को रोकने के लिए हाथरूपी छाते का प्रयास।

क्रोध से होनेवाली असूया, जैसे 'अमरुशतक' में—

गदा को घुमाते हुए तथा कौरवों का संहार करते हुए आज एक दिन के लिए न तो आप मेरे ज्येष्ठ भ्राता हैं और न मैं आपका कनिष्ठ भाई।

गर्वोऽभिजनलावण्यबलैश्वर्यादिभिर्मदः ।

कर्माण्याधर्षणावज्ञा सविलासाङ्गवीक्षणम् ॥१९॥

मद—अपने श्रेष्ठ कुल सुन्दरता ऐश्वर्य पराक्रम आदि से होनेवाले मद को गर्व कहते हैं। दूसरे को बुरी दृष्टि से देखना तथा अपमान आदि करना इस अवस्था में देखे जाते हैं। साथ ही गर्वित पुरुष में विलासपूर्वक अपने अंगों को देखने की बात भी पाई जाती है ॥१९॥

जैसे 'महावीरचरित' में—रामचन्द्र परशुराम के आने पर भय विह्वल क्षत्रियों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—'हे क्षत्रियो डरकर काँपना छोड़ दो निर्भय हो जाओ क्योंकि मुनि के शाप-शाप ये वीर भी हैं ऐसे पुरुष का सम्मान मुझे प्रिय लगता है। तपस्या के बारे में फैली हुई है कीर्ति जिनकी और बल के दर्प से सुशोभित रही हैं भुजाएँ जिनकी ऐसे परशुरामजी का सत्कार करने में मैं रघुकुलोत्पन्न रामचन्द्र नाम का अभी समर्थ हूँ।

अथवा जैसे उसी 'वीरचरित' का यह पद—'ब्राह्मणातिक्रमत्यागो आदि।

[इसका अर्थ द्वितीय प्रकाश में धीरोदात्त नायक के उदाहरण में बताया जा चुका है]

सदृशज्ञानचिन्ताद्यैः संस्कारात्स्मृतिरत्र च ।

ज्ञातत्वेनार्थभासिन्यां भ्रूसमुन्नयनादयः ॥२०॥

स्मृति—पहले की देखी हुई वस्तु के सदृश किसी अन्य वस्तु को देखकर संस्कार के द्वारा मन में उस पहली देखी हुई वस्तु का जो रूप खिंच जाता है उसे स्मृति कहते हैं। इस दशा में भौंहों को सिकोड़ना आदि लक्षण देखे जाते हैं ॥२०॥

जैसे—सीता को हरण कर ले जाते हुए जटायु को देख रावण की यह उक्ति है—

'क्या यह मैनाक तो नहीं है जो मेरे रास्ते को रोक रहा है? (फिर सोचकर) पर उसको इतना साहस कहाँ? क्योंकि वह तो इन्द्र के वज्र से ही डरता है। और यह गरुड़ है ऐसा भी अनुमान करना ठीक नहीं है कारण वह अपने प्रभु विष्णु के साथ मेरे पराक्रम को जानता है। (फिर सोचकर) अरे, यह तो वृद्ध जटायु है जो वृद्धावस्था के वशीभूत होकर (वृद्धावस्था में बुद्धि ठीक नहीं रहती यही तात्पर्य है) अपनी मृत्यु चाह रहा है।

अथवा जैसे 'मालतीमाधव' में माधव—

'लीन किधौं प्रतिबिम्बित चित्रित ऊँची उभारिकै कोरि दई है।
चापित बज्जर लेपसों या चिपकाइ, कीं कील समान गई है॥
कै चित पाँचहु बानन सों अति सुन्दर काम ने ठीक ठई है।
साथ निरन्तर तन्तु के जाल सिऐं सुनिकै यह प्रेम मई है॥'

मरणं सुप्रसिद्धत्वादनर्थत्वाच्च नोच्यते।

मरण—मरण के सुप्रसिद्ध तथा अनर्थकारी होने से इसकी परिभाषा नहीं दी जा रही है।

जैसे—

"पति के आगम की तिथि को जिधर से उसके आने का रास्ता था उधर ही वह झरोखे के पास बार-बार जाती रही। कुछ क्षण तक इस प्रकार के कार्यक्रम को जारी रखने के बाद काफ़ी देर तक बैठकर उसने कुछ सोचा और उसके बाद क्रीड़ा में पाली जाती कुररी पक्षी को आँसुओं के साथ सखियों को समर्पित करके चट आम्र के साथ माधवी लता के करुणापूर्ण पाणिग्रहण-संस्कार को सम्पन्न किया।

इस प्रकार से शृंगार रस के आलम्बन के रूप में जहाँ मरण का वर्णन करना हो वहाँ वास्तविक मरण को न दिखाकर मरण का केवल आभास-मात्र ही दिखलाना चाहिए।

जैसे—सीता को हरण कर ले जाते हुए जटायु को देख रावण की यह उक्ति है—

'क्या यह मैनाक तो नहीं है जो मेरे रास्ते को रोक रहा है? (फिर सोचकर) पर उसको इतना साहस कहाँ? क्योंकि वह तो इन्द्र के वज्र से ही डरता है। और यह गरुड़ है ऐसा भी अनुमान करना ठीक नहीं है कारण वह अपने प्रभु विष्णु के साथ मेरे पराक्रम को जानता है। (फिर सोचकर) अरे, यह तो वृद्ध जटायु है जो वृद्धावस्था के वशीभूत होकर (वृद्धावस्था में बुद्धि ठीक नहीं रहती यही तात्पर्य है) अपनी मृत्यु चाह रहा है।

अथवा जैसे 'मालतीमाधव' में माधव—

'मौन किधौं प्रतिबिम्बित चित्रित ऊँची उभारिकैं कोरि धर्यो है।
चापित मन्मथ चेपसों या चिपकाय, कीं बीज समान धर्यो है॥
कैं चित पाँचहु बानन सों अति सुन्दर काम मैं ठीक ठर्यो है।
ताथ निरन्तर तन्तु कैं जाल सिर्यो सुमिकैं यह प्रेम भर्यो है॥'

मरणं सुप्रसिद्धत्वादनर्थत्वाच्च नोच्यते।

मरण—मरण के सुप्रसिद्ध तथा अनर्थकारी होने से इसकी परिभाषा नहीं दी जा रही है।

जैसे—

"पति के आने की तिथि को बिसर से उसके आने का रास्ता जा उधर ही वह झरोखे के पास बार-बार जाती रही। कुछ क्षण तक इस प्रकार के कार्यक्रम को जारी रखने के बाद काफी देर तक बैठकर उसने कुछ सोचा और उसके बाद क्रीड़ा में पालेपाली कुररी पक्षी को आँसुओं के साथ सखियों को समर्पित करके पद प्रणाम के साथ माधवी लता व करुणापूर्ण पाणिग्रहण-संस्कार को सम्पन्न किया।

इस प्रकार से शृंगार रस के आलम्बन के रूप में जहाँ मरण का वर्णन करना हो वहाँ वास्तविक मरण को न दिखाकर मरण का केवल आभास-मात्र ही दिखलाना चाहिए।

मेरे ज्ञान को कभी तिरोहित करता है और कभी प्रकाशित करता है। यह (विकार) सुख है या दुःख, मूर्च्छा है या निद्रा, विष का प्रसरण है अथवा मादक द्रव्य के सेवन से उत्पन्न मद? यह निश्चय नहीं किया जा सकता है।

भ्रान्तिच्छेदोपदेशाभ्यां शास्त्रादेस्तत्त्वधीर्मतिः ।

मति—शास्त्र आदि के उपदेश से अथवा भ्रान्ति के नष्ट हो जाने से जो तत्त्वज्ञान होता है उसको मति कहते हैं।

जैसे 'किरातार्जुनीयम्' में— 'बिना विचारे कोई भी कार्य न करे क्योंकि विचार करके न करना ही सब विपत्तियों का स्थान है। इसके सिवाय गुण का लोभ रखनेवाली सम्पत्तियाँ खुद ही विचारकर काम करनेवाले के पास आ जाती हैं।

और भी जैसे—

पण्डित लोग झटपट कोई कार्य नहीं करते और किसी की बात को सुनकर पहले वे उसके तत्त्व की छानबीन करते हैं और फिर उस तत्त्व को ग्रहण कर अपने कार्य की सिद्धि के साथ-साथ दूसरे के भी प्रयोजन को सिद्ध करते हैं।

आलस्यं श्रमगर्भादेर्जाड्यं जृम्भासितादिमत् ॥२७॥

आलस्य—थकावट, गर्भ का भार, आदि के कारण उत्पन्न जड़ता को आलस्य कहते हैं। इस दशा में जँभाई आती है और बैठे रहने की इच्छा बनी रहती है ॥२७॥

जैसे मेरा ही पद्य— 'वह बड़ी मुश्किल से किसी प्रकार चलती फिरती है और सखियों के द्वारा पूछे जाने पर भी बड़े कष्ट के साथ उत्तर देती है। इस प्रकार ऐसा लगता है मानो गर्भ के भार से थक गई सुन्दरी हमेशा बैठे ही रहना चाहती है।'

आवेगः संभ्रमोऽस्मिन्नभिसरजनिते शस्त्रनागाभियोगो
[illegible] पिण्डिताङ्गः ।

मेरे ज्ञान को कभी तिरोहित करता है और कभी प्रकाशित करता है। यह (विकार) सुख है या दुःख, मूर्च्छा है या निद्रा, विष का प्रसरण है अथवा मादक द्रव्य के सेवन से उत्पन्न मद ? यह निश्चय नहीं किया जा सकता है।

भ्रान्तिच्छेदोपदेशाभ्यां शास्त्रादेस्तत्त्वधीर्मतिः ।

मति—शास्त्र आदि के उपदेश से अथवा भ्रान्ति के नष्ट हो जाने से जो तत्त्वज्ञान होता है उसको मति कहते हैं।

जैसे 'किरातार्जुनीयम्' में— 'बिना विचारे कोई भी कार्य न करे क्योंकि विचार करके न करना ही सब विपत्तियों का स्थान है। इसके सिवाय गुण का लोभ रखनेवाली सम्पत्तियाँ खुद ही विचारकर काम करनेवाले के पास आ जाती हैं।

और भी जैसे—

"पण्डित लोग झटपट कोई कार्य नहीं करते और किसी की बात को सुनकर पहले वे उसके तत्त्व की छानबीन करते हैं और फिर उस तत्त्व को ग्रहण कर अपने कार्य की सिद्धि के साथ-साथ दूसरे के भी प्रयोजन को सिद्ध करते हैं।"

आलस्यं श्रमगर्भादिर्जाड्यं जृम्भासितादिमत् ॥२७॥

आलस्य—थकावट, गर्भ का भार, आदि के कारण उत्पन्न जड़ता को आलस्य कहते हैं। इस दशा में जँभाई आती है और बैठे रहने की इच्छा बनी रहती है ॥२७॥

जैसे मेरा ही पद्य — 'यह बड़ी मुश्किल से किसी प्रकार चलती फिरती है और सखियों के द्वारा पूछे जाने पर भी बड़े कष्ट के साथ उत्तर देती है। इस प्रकार ऐसा लगता है मानो गर्भ के भार से अलसाई हुई सुन्दरी हमेशा बैठे ही रहना चाहती है।

आवेगः सम्भ्रमोऽस्मिन्नभिसरजनिते शस्त्रनागाभियोगो
वातात्पांसूपदिग्धस्त्वरितपदगतिर्वर्षजे पिण्डिताङ्गः ।

जाने ही के लिए निर्णय दे रही है और न रखने ही के लिए। क्या करूँ कुछ समझ में नहीं आता।

इष्ट-प्राप्ति से होनेवाला आवेग—

जैसे—यहीं पर (पटाक्षेप के साथ सम्भ्रान्त वानर का प्रवेश) 'महाराज! पवनसुत हनुमान के आगमन से उत्पन्न महान् हर्ष है।' इत्यादि से आरम्भ कर 'महाराज के हृदय को आनन्द देनेवाला मधुवन विदलित कर दिया गया।' यहाँ तक।

अथवा जैसे 'महावीरचरित' में—

'पूर्णिमा के चन्द्र के समान रघुकुल को आनन्द देनेवाले वत्स रामचन्द्र! आओ आओ मैं तुम्हारे मस्तक को चूमना तथा आलिंगन करना चाहता हूँ। मेरे मन में आ रहा है कि तुम्हें अपने हृदय में रखकर दिन रात ढोया करूँ अथवा कमलवत् चरणों की ही वन्दना करूँ।'

अग्नि से होनेवाला आवेग—

जैसे—'त्रिपुरासुर के नगर के दाह के समय भगवान् शंकर के शर से निकली हुई[1] अग्नि वहाँ की युवतियों के अंगों में लग जाती है तो वे उसे झटककर आगे बढ़ती हैं। जब आग बाले लगती है तो वह उनके आँचल को पकड़ लेती है और यदि किसी प्रकार इससे भी बच निकलती हैं तो केशों में लग जाती है और यदि वहाँ भी उनको भाग मिल गया तो वह पैरों में लग जाती है। इस प्रकार सद्य अपराध किये हुए अपराधी के समान आचरण करनेवाली भगवान् शंकर की शराग्नि आप लोगों के पापों को नष्ट करे।'

---

१ संस्कृत में अग्नि शब्द पुल्लिंग है पर हिन्दी में स्त्रीलिंग। कवि ने अग्नि को लम्पट-पुरुष रूप में चित्रित किया है, इसलिए हिन्दी में यद्यपि अग्नि को स्त्रीलिंग में ही प्रयोग किया गया है पर अब पढ़ते समय पाठकों को पुल्लिंग ही समझ लेना चाहिए अन्यथा श्लोक का भाव ही बिगड़ जाएगा।

अथवा जैसे 'रत्नावली' नाटिका में—

ऐन्द्रजालिक के द्वारा सागरिका को अग्नि में जलते हुए दिखाए जाने पर महाराज उदयन उसको बचाने की चेष्टा करते हुए अग्नि से कहते हैं—

'अग्नि! तू अपना अत्याचार बन्द कर शान्त हो जा। अपने धूम से अन्धा कर देना छोड़ दे, तेरी ऊँची ऊँची अग्नि की चिनगारियों से मैं डरने वाला नहीं हूँ। प्रलयाग्नि के सदृश प्रिया की विरहाग्नि में जो (मैं) न जल सका उसका तू क्या बिगाड़ सकती है।

हाथी के द्वारा होनेवाला आवेग—

जैसे 'रघुवंश' में—

'उस विशाल जंगली हाथी को देखते ही सब घोड़े भी रस्सा तुड़ा-तुड़ाकर भाग चले। उस भगदड़ में जिन रथों के धुरे टूट गए वे जहाँ-तहाँ गिर पड़े। सैनिक लोग अपनी स्त्रियों को छिपाने के लिए सुरक्षित स्थान ढूँढने लगे। इस प्रकार अकेले उस मदमत्त हाथी ने सेना में भारी भगदड़ मचा दी।

तर्को विचारः सन्देहाद् भ्रूशिरोऽङ्गुलिनर्तकः।

वितर्क या तर्क—सन्देह को हटाने के लिए उत्पन्न विचारों को तर्क कहते हैं। इसमें व्यक्ति अपनी भौंहों, कंधों, सिर और अँगुलियों को नचाता है।

जैसे—

लक्ष्मण अपने-आप सोच रहे हैं—"क्या भरत ने राज्य के लालच में पड़कर इस प्रकार से मर्यादा का अतिक्रमण तो नहीं किया? अथवा माता कैकेयी ने ही स्त्रीजन्य स्वाभाविक लघुतावश स्वयं ही ऐसा कर्म कर डाला? पर मेरा इस प्रकार का सोचना-विचारना ठीक नहीं है क्योंकि भरत बड़े भाई आर्य राम के लघु भ्राता हैं और कैकेयी माँ मेरे पुण्यश्लोक पिता महाराज दशरथ की धर्मपत्नी हैं।

अथवा— यदि ऐसी बात नहीं है तो गुरुओं में श्रेष्ठ तथा अभिषेक के योग्य सर्वाधिकारी बड़े भाई राम को सिंहासनच्युत करने में किसकी

कारणता स्वीकार करूं ? (फिर सोचकर) मुझे तो ऐसा लगता है कि मेरे पुण्यों का ही यह फल है जिसके वश ब्रह्मा ने इसी बहाने मुझे सेवा करने का अवसर प्रदान किया।

लज्जाद्यैर्विक्रियागुप्ताववहित्थाङ्गविक्रिया ।

अवहित्था—लज्जा आदि भावों के कारण उत्पन्न मन के विकारों के छिपाने को अवहित्था कहते हैं।

जैसे कुमारसम्भव' में—

देवर्षि नारद जिस समय इस प्रकार की (पार्वती के विवाह सम्बन्धी) बातें कर रहे थे उस समय पार्वतीजी अपने पिता के पास मुँह नीचा करके लीला-कमल के पत्ते गिनती बैठी गिन रही थीं।

व्याधयः सन्निपाताद्यास्तेषामन्यत्र विस्तरः ॥२९॥

व्याधि—सन्निपात रोग आदि को व्याधि कहते हैं। इसका विस्तृत वर्णन और ग्रन्थों में है इसलिए यहाँ पर इसका वर्णन संक्षेप में ही किया जा रहा है ॥२९॥

जैसे—

कोई दूती किसी नायक से उसकी नायिका की विरहजनित पीड़ा का वर्णन करती हुई कह रही है— अनवरत प्रवहमान आँसुओं को उसने अपने सम्बन्धियों के जिम्मे और चिन्ता गुरुजनों के लिए, अपनी सारी दीनता कुटुम्बियों को और सन्ताप सखियों के हवाले कर दिया है। इस प्रकार श्वास प्रश्वासों के द्वारा परम दुखी वह अभी जब रही है मानो एक या दो दिन की ही और मेहमान है। इस प्रकार उसने अपने सारे दुख को यथोचित स्थानों में बाँट दिया है अतः अब आप विश्वस्त रहें।

अप्रेक्षाकारितोन्मादः सन्निपातग्रहादिभिः ।

अस्मिन्नवस्था रुदितगीतहासासितादयः ॥३०॥

उन्माद—बिना सोचे-समझे काम करने को उन्माद कहते हैं। यह

सन्निपात आदि शारीरिक रोगों से तथा मद आदि अन्य कारण से भी होता है। इसमें रोना, काँपना, हँसना आदि बातें पाई जाती हैं ॥१०॥

जैसे—

'अरे दुष्ट राक्षस ठहर-ठहर मेरी प्रियतमा को लिये कहाँ जा रहा है? अरे क्या?—अरे, यह तो अभी-अभी बरसनेवाला बादल है राक्षस नहीं है। और यह जो टप-टप की आवाज आ रही है यह उस राक्षस के बाण नहीं अपितु बूँदें हैं तथा यह जो कसौटी पर सोने की रेखा के समान चमक आ रही है यह मेरी प्रिया उर्वशी नहीं अपितु बिजली है।

प्रारब्धकार्यासिद्ध्यादेर्विषादः सत्त्वसंक्षयः ।

निःश्वासोच्छ्वासहृत्तापसहायान्वेषणादिकृत् ॥११॥

विषाद—किसी प्रारम्भ किये हुए कार्य में सफलता न प्राप्त कर सकने के कारण धैर्य के जाने को विषाद कहते हैं। इसमें निःश्वास और उच्छ्वास का निकलना हृदय में दुःख का अनुभव करना और सहायकों को ढूँढना आदि बातें पाई जाती हैं ॥११॥

जैसे 'महावीरचरित' में—

'हाय! आर्या ताड़िका! क्या कहा जाए तितलौकी जल में डूब रही है और पत्थर तैर रहे हैं।

मनुष्य के बच्चे के द्वारा इस प्रकार की अद्भुत पराजय का प्राप्त करना निश्चय ही राक्षसपति के स्खलित प्रताप का सूचक है। इस प्रकार का अपने इष्टमित्रों का विनाश देखकर भी जीवित बचा हुआ मैं दीनता और कायरता से आक्रान्त किया गया हूँ क्या करूँ कुछ समझ में नहीं आता।

कालाक्षमत्वमौत्सुक्यं रम्येच्छारतिसम्भ्रमैः ।

तत्रोच्छ्वासत्वराश्वासहृत्तापस्वेदविभ्रमाः ॥१२॥

औत्सुक्य—किसी सुखदायक वस्तु की आकांक्षा से अथवा प्रेमास्पद

को अभिलषित वस्तु के कारण समय न बिता सकने को औत्सुक्य कहते हैं। इसमें श्वास-प्रश्वास का आना, हड़बड़ी, हृदय की वेदना, पसीना और भ्रम आदि बातें पाई जाती हैं ॥३२॥

जैसे 'कुमारसम्भव' में—

अपने इस छबीले रूप को देखकर पार्वतीजी ठक रह गईं और महादेवजी से मिलने के लिए मचल उठीं क्योंकि स्त्रियों का शृंगार तभी सफल होता है जब उसे पति देखे।

अथवा उसी 'कुमारसम्भव' का यह पद—

"पार्वतीजी से मिलने के लिए महादेवजी इतने उतावले हो गए कि तीन दिन भी उन्होंने बड़ी कठिनाई से काटे। बताइए, जब महादेव जैसे लोगों की प्रेम में यह दशा हो जाती है तो भला दूसरे लोग अपने मन को कैसे सँभाल सकते हैं!

मात्सर्यद्वेषरागादेश्चापल्यं त्वनवस्थितिः ।
तत्र भर्त्सनपारुष्यस्वच्छन्दाचरणादयः ॥३३॥

चपलता—राग द्वेष मात्सर्य आदि के कारण एक स्थिति में न रह सकने को चपलता कहते हैं। इसमें भर्त्सना, कठोर वचन, स्वच्छन्द आचरण आदि लक्षण पाए जाते हैं ॥३३॥

जैसे 'विकट नितम्बा' का यह पद—

'हे भ्रमर! तू अपने चंचल मन का रमणस्थल ऐसी सुन्दर लता को बना जो तेरी मसलन बरदाश्त कर सके। पर जिसमें रस का प्रारम्भ ही अभी नहीं हो पाया है ऐसी नूतन नवमल्लिका की कलियों को अकाल ही में कष्ट पहुँचाना तो ठीक नहीं है।"

अथवा जैसे—

विकट नितम्बा कह रही है—"परस्पर संघर्षण से धूमयुक्त कठोर दाँत रूपी आरों से चिरा हुआ चन्दन के समान मध्यमान बारा मेरा मुख क्या अनुचित रूप से अभी अभी तुम्हारे ऊपर गिरे?"

सन्निपात आदि शारीरिक रोगों से तथा मधु आदि अन्य कारण से भी होता है। इसमें रोना गाना हँसना आदि बातें पाई जाती हैं ॥१॥

जैसे—

"अरे दुष्ट राक्षस ठहर-ठहर मेरी प्रियतमा को लिये कहाँ जा रहा है? क्यों क्या?"—"अरे, यह तो अभी-अभी बरसनेवाला बादल है राक्षस नहीं है। और यह जो टप-टप की आवाज आ रही है वह उस राक्षस के बाण नहीं अपितु बूँदें हैं तथा यह जो कसौटी पर बनी सोने की रेखा के समान चमक आ रही है यह मेरी प्रिया उर्वशी नहीं अपितु बिजली है।

प्रारब्धकार्यासिद्ध्यादेर्विषादः सत्त्वसंक्षयः ।

निःश्वासोच्छ्वासहृत्तापसहायान्वेषणादिकृत् ॥११॥

विषाद—किसी प्रारम्भ किये हुए काम में सफलता न प्राप्त कर सकने के कारण धैर्य को खाने को विषाद कहते हैं। इसमें निःश्वास और उच्छ्वास का निकलना, हृदय में दुःख का अनुभव करना और सहायकों को ढूँढ़ना आदि बातें पाई जाती हैं ॥११॥

जैसे 'महावीरचरित' में—

'हाय! आर्या ताड़िका! क्या कहा जाए तितलौकी जल में डूब रही है और पत्थर तैर रहे हैं।

मनुष्य के बच्चे के द्वारा इस प्रकार की अद्भुत पराजय को प्राप्त करना निश्चय ही राक्षसपति के स्खलित प्रताप का सूचक है। इस प्रकार का अपने इष्टजनों का विनाश देखकर भी जीवित बचा हुआ मैं दीनता और कायरता से जकड़ दिया गया हूँ क्या करूँ कुछ समझ में नहीं आता!

कालाक्षमत्वमौत्सुक्यं रम्येच्छारतिसंभ्रमैः ।

तत्रोच्छ्वासत्वरानिःश्वासहृत्तापस्वेदविभ्रमाः ॥१२॥

औत्सुक्य—किसी सुखदायक वस्तु की आकांक्षा से अथवा प्रेमास्पद

सकता है। बात तो यह है कि उसके अविराम स्मरण होने से मेरे अन्त करण की वृत्ति तदाकार (प्रियतमाकार) हो गई है। भीतर-बाहर सर्वत्र उस प्राणप्यारी का रूप अनुदृष्टिगोचर हो रहा है। बस इसी ज्ञान ध्यान ने मुझे तत् (प्रियतमा) मय बना दिया है।

अत इस प्रकार से विरोधी और अविरोधी का समावेश काव्य मे स्थायी का बाधक नहीं होता क्योंकि विरोधी दो प्रकार का होता है—१ सहानवस्थान और २ बाध्यबाधकभाव।

यहाँ पर दोनो प्रकार के विरोधो की सम्भावना नहीं है क्योंकि इनका पार्यन्तिक अवसान एकाकार होकर होता है।

स्थायी के विरोध-स्थल मे 'सहानवस्थान' हो नहीं सकता क्योंकि रत्यादि भावना से उपरक्त अन्त करण म अविरोधी व्यभिचारियो का उपनिबन्धन् अकसूत्र न्याय से समस्त भावको की अपनी समवेदना से सिद्ध है।

जैसे वह अनुभव से सिद्ध है वैसे ही काव्य-व्यापार के आवेश मे अनुकार्य म भी निवेशित किया हुआ साधारणीकरण के माध्यम से उसी प्रकार आनन्दात्मक ज्ञान के उन्मीलन मे कारण बनता है। अत भावो का सहानवस्थान सम्भव नहीं है।

रहा 'बाध्य बाधक भाव'—इसका तात्पर्य है 'एक भाव का दूसरे भाव से तिरस्कृत हो जाना' सो वह स्थायीभावो के अविरोधी व्यभिचारियो से हो नहीं सकता क्योंकि वे स्थायी के अविरोधी इसीलिए तो हैं। यदि वे व्यभिचारी भाव प्रधान (स्थायीभावो) के विरोधी ही हो जाएँ तो फिर उनकी अमता (अप्रधानत्व) ही कहाँ रह जाएगी? इसी प्रकार पारम्पर्य विरोध का भी परिहार हो जाता है। इसका उदाहरण मालतीमाधव मे देखा जा सकता है जहाँ शृगार के अनन्तर बीभत्स का वर्णन होने पर भी—यद्यपि इनका पारम्पर्य विरोध है फिर भी इस स्थल मे किसी प्रकार की विरसता पैदा नहीं होती है। अत यदि ऐसी बात है तो एक आलम्बन के प्रति विरुद्ध रस भी यदि किसी

उपरिकथित भावों के अतिरिक्त अन्य चित्तवृत्तियाँ इन्हीं सबके भीतर विभाव अनुभाव आदि स्वरूपों के द्वारा आ जाएँगी। अतः उनका अलग नहीं गिनाया गया।

स्थायीभाव

विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः ।

आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः ॥३४॥

स्थायीभाव—विरोधी अथवा अविरोधी भावों से जिसका प्रवाह विच्छिन्न न हो तथा जो अन्य भावों को आत्मसात् कर ले उसे स्थायीभाव कहते हैं ॥३४॥

सजातीय एवं विजातीय भावान्तरों से जो तिरस्कृत न होकर साम्य में उपनिबद्ध होते हैं उन रत्यादि भावों को स्थायीभाव कहते हैं। उदाहरणार्थ हम बृहत्कथा में नरवाहनदत्त का मदनमंजुषा के प्रति जो अनुराग है उसे ले सकते हैं। यह अनुराग अन्य नायिकाओं के अनुराग से टूटता नहीं है अर्थात् यहाँ सजातीय अनुरागों से मदनमंजुषा के अनुराग में बाधा नहीं पहुँचती है। उसका प्रवाह अविच्छिन्न ही बना रहता है।

विजातीय भावों से स्थायी का उदाहरण मालतीमाधव के श्मशानाङ्क में माधव का मालती के प्रति अनुराग में दिखाई देता है। यहाँ यद्यपि माधव की चित्तवृत्ति बीभत्स रस से आप्लावित है जो एक विजातीय भाव है फिर भी इससे मालती के प्रति जो रति की भावना है वह टूटती नहीं है। वहाँ उसके हृदय में मालती का करुण क्रन्दन कुछ क्षण के लिए दबे हुए रति भाव को जगा देता है। माधव का यह कथन इसका प्रमाण है—

मेरे उस व्यापार के आपूर रहने से प्यारी की स्मृति-धारा इतनी प्रबल हो गई है कि न तो उसका प्रवाह दूसरी बातों द्वारा रोका जाता है और न उसके मार्ग में कोई विषयान्तर का विचार बाधा पहुँचा

स्त्रियों के हाथरूपी रक्तकमल का शिरोभूषण धारण किया है। और गुग्गा और हृदय प्रदेश-रूपी कमल से माला पूर्वक अपने को सजाया है। इन्होंने रक्त के कीचड़ से ही कुंकुम का लेप किया है तथा वे कपाल रूपी प्याले में भर भरकर अस्थियों में बची हुई चरबी को प्रसन्नतापूर्वक अपने-अपने प्रियतम के साथ पी रही हैं।"

यहाँ पर रति और जुगुप्सा का सम प्राधान्य है। और जैसे—

'भगवान् शंकर अपने एक नेत्र को समाविष्ट किये हुए हैं और दूसरा नेत्र पार्वती के मुखकमल और उनके स्तन प्रदेश पर श्रृंगार मार से धसाया हुआ है तथा तीसरा नेत्र दूर से बाण मारने वाले कामदेव के ऊपर क्रोधाग्नि को फेंक रहा है। इस प्रकार समाधि के समय भिन्न भिन्न रस का आस्वाद लेनेवाले भगवान् शंकर के तीनों नेत्र हमारी रक्षा करें।

यहाँ पर शम और रति स्थायीभावों का सम प्राधान्य है।

ऐसे ही—

"सन्ध्याकाल में प्रियतम के वियोग की आशंकावाली चक्रवाकी अपने एक नेत्र से शोक के साथ आकाश में विचरण करनेवाले सूर्य बिम्ब को देख रही है तथा अपने दूसरे नेत्र से आँखों में आँसू भरकर अपने प्रियतम को देख रही है। इस प्रकार दो संकीर्ण रसों की रचना वह (चक्रवाकी) अगम्या नर्तकी के समान सूर्यास्त होने के समय में कर रही है।

यहाँ पर रति शोक और क्रोध इन तीन स्थायीभावों का सम प्राधान्य है तो फिर यहाँ इनका आपस में विरोध कैसे नहीं होगा?

उत्तर—इन स्थलों में भी एक स्थायीभाव है क्योंकि 'एकस्तो रुपई पियाँ' इस स्थल में उत्साह स्थायीभाव है। यहाँ वितर्क है व्यभिचारी भाव और इस व्यभिचारी भाव का अंग होता है सन्देह तथा उस सन्देह की व्यक्ति के लिए (प्रिया रुदन) कारण एवं रुदन का उपादान है। अत: उत्साह स्थायीभाव होने से यहाँ वीर रस का ही पोष

स्त्रियों ने हास्यरूपी रक्तकमल का शिरोभूषण धारण किया है। और मुग्धा और हृदय-प्रदेश-रूपी कमल से माला गूँथकर अपने को सजाया है। इन्होंने रक्त के कीचड़ से ही कुंकुम का लेप किया है तथा ये कपाल रूपी प्याली में भर-भरकर मस्तिष्कों से बची हुई चरबी को प्रसन्नतापूर्वक अपने-अपने प्रियतम के साथ पी रही हैं।

यहाँ पर रति और जुगुप्सा का सम प्राधान्य है। और जैसे—

"भगवान् शंकर अपने एक नेत्र को समाधिस्थ किये हुए हैं और दूसरा नेत्र पार्वती के मुखकमल और उनके स्तन प्रदेश पर शृंगार भार से अलसाया हुआ है तथा तीसरा नेत्र दूर से चाप मारने वाले कामदेव के ऊपर कोपाग्नि को फेंक रहा है। इस प्रकार समाधि के समय भिन्न भिन्न रस का आस्वाद लेनेवाले भगवान् शंकर के तीनों नेत्र हमारी रक्षा करें।

यहाँ पर शम और रति स्थायीभावों का सम प्राधान्य है।

ऐसे ही—

'सन्ध्याकाल में प्रियतम के वियोग की आशंकावाली चक्रवाकी अपने एक नेत्र से कोप से लाल आकाश में विचरण करनेवाले सूर्य बिम्ब को देख रही है तथा अपने दूसरे नेत्र से आँखों में आँसू भरकर अपने प्रियतम को देख रही है। इस प्रकार दो सर्वोत्तम रसों की रचना यह (चक्रवाकी) अपनत्व मर्यादा के मध्य मूर्छित होने के समय म कर रही है।"

यहाँ पर रति शोक और क्रोध इन तीन स्थायीभावों का सम प्राधान्य है तो फिर यहाँ इनका आपस में विरोध कैसे नहीं होगा?

उत्तर—इन स्थलों में भी एक स्थायीभाव है क्योंकि 'एकस्मो स्वर्ग स्थिते' इस स्थल में उत्साह स्थायीभाव है। यहाँ स्थितें है व्यभिचारी भाव और इन व्यभिचारी भाव का समक होता है सुमेरु तथा उस आरोह की व्याप्ति के लिए (प्रिया रक्षा) करण एवं रक्षा का उपादान है। अत उत्साह रसपोषक होने से यहाँ वीर रस का ही पोष

स्थायित्व को प्राप्त कर सकेंगे। अन्यथा वाक्य वृत्ति से आलिङ्गित होने पर तो रत्यादि भाव नहीं रह पा सकेंगे और फिर उनके लिए स्थायित्व की प्राप्ति असम्भव हो जायगी।

और ये [निम्नलिखित स्थायीभाव हैं]—

रत्युत्साहजुगुप्साः क्रोधो हासः स्मयो भयं शोकः।
शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य ॥३५॥

रति उत्साह जुगुप्सा क्रोध हास स्मय भय शोक ये आठ स्थायीभाव हैं। कुछ लोग शम को भी स्थायीभाव मानते हैं पर इसकी पुष्टि नाट्य में नहीं होती। ॥३५॥

इस स्थल में शान्तरस के प्रतिवादियों की अनेक प्रकार की विप्रतिपत्तियाँ हैं। उनमें से एक दल का कहना है कि शान्त नाम का कोई रस ही नहीं है। इसमें कारण है आचार्य के द्वारा इसके विभावादिकों का वर्णन न करना तथा लक्षण का अभाव।

कुछ का कहना है कि केवल आचार्य भरत ने विभाव आदि का प्रतिपादन नहीं किया है इसीलिए शान्तरस नहीं है यह बात नहीं है, प्रत्युत वस्तुतः शान्तरस नहीं है। इसका कारण स्पष्ट है—शम की पुष्टि ही शान्त है और शम की उत्पत्ति रागद्वेष के समूल नष्ट होने पर निर्भर करती है। यह रागद्वेष जो अनादि काल से अन्तःकरण में चलता चला आ रहा है उसका उच्छेद शास्त्रविधता के बिना व्यावहारिक अवस्था में होना भी असम्भव है।

तीसरा दल यह कहता है कि शान्तरस का अन्तर्भाव वीर और बीभत्स आदि ही में किया जा सकता है। इस प्रकार कहते हुए वे शम भाव का भी खण्डन कर देते हैं।

चाहे जो भी हो पर इतना तो सुनिश्चित है कि रूपकों में शम का स्थायित्व सुग्राह्य नहीं है। कारण यह है कि नाट्य अभिनयात्मक होता है और शम समस्त व्यापारों का प्रविलय रूप है। अतः इन दोनों (शम और अभिनय) का सम्बन्ध कैसे हो सकता है? अर्थात्

किसी प्रकार इन दोनों का सम्बन्ध नहीं बैठ सकता।

कुछ लोगों ने नागानन्द में 'शम' को स्थायीभाव माना है। उनके कथन का स्पष्ट विरोध नागानन्दप्रवृत्त मलयवती के अनुराग एवं विद्याधर की चक्रवर्तित्व-प्राप्ति से है। कहने का भाव यह है कि यदि जीमूतवाहन शम प्रधान होता तो उसे मलयवती में अनुराग और चक्रवर्तित्व की प्राप्ति स्वीकार नहीं होती। एक ही अनुकार्य स्वरूप विभाव का आश्रय करके परस्पर-विरोधी शम एवं रति (शान्त एवं शृंगार) की उपलब्धि कहीं भी नहीं देखी गई। अतः वस्तुतः यहाँ दया वीर के स्थायीभाव उत्साह का ही उपनिबन्ध मानना चाहिए। इस प्रकार से यहाँ शृंगार का अंगभाव तथा चक्रवर्तित्व की प्राप्ति का विरोध हट जाता है। कर्तव्य-भाव में इच्छा विषयी ही रहती है। अतः परोपकार रूप कर्तव्य में साभिमान प्रवृत्त विजिगीषु (विजय की इच्छा रखनेवाले) को फल की प्राप्ति अवश्यम्भावी है। साभिमान कर्तव्य और फल का नित्य सम्बन्ध है। इस विषय की चर्चा द्वितीय प्रकाश में ही पर्याप्त रूप से की जा चुकी है। अतः वस्तुतः आठ ही स्थायी (भाव) होते हैं।

प्रश्न—उक्त सिद्धान्त पर कुछ लोगों की यह आपत्ति है कि अद्भुत-मधुर शृंगार आदि रसों के समान ही इन निर्वेद आदिकों की रस रूप की प्राप्ति स्वाद अर्थात् आस्वाद के कारण ही है। क्योंकि जिस प्रकार शृंगार आदि आस्वाद होने के कारण रस कहे जाते हैं वह आस्वाद उसका यह शम आदि में भी पर्याप्त दिखाई देता है तो क्यों इन्हें रस न माना जाए? इन युक्तियों से अन्य रसों की भी कल्पना कर उनके विभिन्न स्थायीभावों की कल्पना की गई है। फिर इस प्रकार जब कई रस हो सकते हैं तो 'अष्टावेव' से रसों की संख्या को आठ ही में बाँधना कहाँ तक युक्ति-संगत है?

उत्तर—[इसका उत्तर आचार्य धनिक निम्नलिखित प्रकार से देते हैं—]

की प्राप्ति भी नहीं हो सकती। इसलिए अस्थायी होने के कारण इनकी अरसता है अर्थात् ये रस नहीं हो सकते।

अब विचारणीय यह है कि इन भावों का काव्य से क्या सम्बन्ध है? काव्य से भावों का वाच्य-वाचक भाव-सम्बन्ध इसलिए सम्भव नहीं है क्योंकि भाव भी स्वशब्द से कथित नहीं होते अपितु विभावादिकों से वाच्य होते हैं। शृंगार आदि रसों से युक्त काव्यों में शृंगार आदि अथवा रत्यादि शब्द कभी भी दृष्टिगोचर तो होते नहीं जिससे हम इन भावों के अथवा इनके वर्तमान स्वरूप को अभिधेय कहते। अथवा मान लिया जाए कहीं रत्यादिकों का स्वशब्दवाचक शब्द (रति या शृंगार) से बोध होता भी हो तो वहाँ इनकी आस्वाद्यता का कारण वह अभिधेय शब्द नहीं होगा प्रत्युत विभाव आदि के ही कारण इनकी रसरूपता सम्भव है, केवल अभिधायक शब्द मात्र से ही वह आस्वाद्य होता हो ऐसा कभी सम्भव नहीं है।

भावों का काव्य के साथ लक्ष्य-लक्षक भाव-सम्बन्ध भी नहीं बन सकता क्योंकि विशेष रस की प्रतीति के लिए सामान्य पद (रस) का प्रयोग होता ही नहीं है। रस सामान्यवाचक है और प्रतीति किसी विशेष रस की होती है। सामान्य रस शृंगार आदि विशेष के वाचक हो नहीं सकते।

यहाँ लक्षित लक्षणा भी नहीं हो सकती है क्योंकि जिस प्रकार 'गंगा में घोष है' इस स्थल में स्रोत-स्वरूप गंगा में घोष की आधारता (रहना) सम्भव नहीं है अतः गंगा शब्द विवक्षित अर्थ की प्रतीति कराने में पूर्णतः असमर्थ है। फलतः स्वार्थ स्रोत से नित्य सम्बद्ध तटरूप अर्थ को वही गंगा शब्द लक्षित करता है। इसी प्रकार किसी भी रस की प्रतिपत्ति कराने के लिए प्रयुक्त शब्द विवक्षितार्थ के बोध कराने में स्खलित गति (असमर्थ) नहीं होता है तो फिर गंगा में क्यों लक्षणा से रस की प्रतीति कराएँगे? यदि बलात् इन पदों की लक्षणा की भी जाए तो हम यह पूछते हैं कि गंगा जैसा कौन होगा जो रूढ़ि या प्रयोजन के

यह बात अलंकारों में भी पाई जाती है। जैसे—

हे चंचल और विशाल नेत्रोंवाली लावण्य और कान्ति से दिग्मण्डल को परिपूरित कर देनेवाली तुम्हारे मुख के मन्द-मुस्कान से युक्त होने पर भी इस समुद्र मे जरा भी क्षोभ पैदा नही होता है अतः मालूम होता है कि यह वास्तव मे मूढ़ता से भरा हुआ है [जलराशि का जड़ राशि करना पड़ता है क्योंकि संस्कृत मे ड और ल मे भेद नही माना जाता] इत्यादि म तन्वी का वदनारविन्द चन्द्र के तुल्य है इत्यादि उपमा अलंकार की प्रतीति व्यंजना शक्ति के ही कारण है। इस प्रतीति को अर्थापत्ति से आया हुआ नही कह सकते क्योंकि अर्थापत्ति के लिए अनुपपद्यमान अर्थ की अपेक्षा रहती है पर व्यंजना के लिए इसकी कोई आवश्यकता नही है। इस प्रतीति को वाच्यार्थ भी नही कह सकते क्योंकि व्यङ्ग्यार्थ है तृतीय कक्षा का विषय। उदाहरणार्थ 'भ्रम धार्मिक विश्रब्ध' इत्यादि स्थल मे पहले पदार्थ प्रतीति होती है जो अभिधा का कार्य है। इस प्रथम कक्षा की पदार्थ प्रतीति के अनन्तर द्वितीय कक्षा में क्रिया कारक संसर्ग स्वरूप वाच्यार्थ की प्रतीति होती है, तदनन्तर तृतीय कक्षा मे 'भ्रमण निषेध' स्वरूप व्यग्यार्थ जो व्यंजना शक्ति के अधीन है स्पष्ट ही भासित होता है। अतः द्वितीय कक्षा मे प्रतीति वाच्यार्थ से तृतीय कक्षा मे प्रतीति होनेवाला व्यग्यार्थ सर्वथ भिन्न है। अत व्यग्यार्थ और वाच्यार्थ कथमपि एक नही हो सकता।

यद्यपि 'विष भुङ्क्ष्व' इत्यादि वाक्यों म जहाँ पदार्थ-तात्पर्य प्रस्तुत भूयमात्र नही है, और तात्पर्य है 'भोजन निषेध' आदि। वहाँ वाच्यार्थ की तृतीय कक्षा है ही। इस स्थल मे व्यंजनावादी को भी 'निषेधार्थ प्रतीति' वाच्यार्थ मानना ही पड़ेगा क्योंकि तात्पर्य से ध्वनि सर्वथा भिन्न है। यहाँ निषेध का ही तात्पर्य है व्यंग्य का नहीं और वह स्पष्टतः तृतीय कक्षा का विषय है। तथापि इस प्रकार तात्पर्यार्थ स्वरूप वाच्यार्थ भी तृतीय कक्षा का विषय हो गया यह कहना ठीक नही है।

वस्तुतः 'विष भुङ्क्ष्व' जैसे वाक्यों का स्वार्थ द्वितीय कक्षा मे

जैसे 'उपोढरागेण' इत्यादि स्थल में रसादि अलंकार हैं।

उस ध्वनि के विवक्षित वाच्य और अविवक्षित वाच्य दो भेद होते हैं। अविवक्षित वाच्य के भी अत्यन्त तिरस्कृत और अर्थान्तर संक्रमित दो भेद होते हैं। विवक्षित वाच्य के भी दो भेद होते हैं—

१ असंलक्ष्यक्रम और २ संलक्ष्यक्रम। इसमें रसादि असंलक्ष्यक्रम में आते हैं। ये रसादि अङ्गीरूप (प्रधान रूप) में रहें तभी ध्वनि कहे जाते हैं और यदि अप्रधान हो जाएँ तो रसवद् अलंकार कहलाने लगते हैं। अप्रधान रहने पर ध्वनि नहीं रह जाते हैं।

इस प्रकार तृतीय कक्षा में ज्ञात अर्थ की व्यंग्यता को पूर्व पक्ष में रखकर उसके तात्पर्यार्थता सिद्धान्तित करने के लिए अब 'वाच्या' इत्यादि से आरम्भ करते हैं।

वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया।
वाक्यार्थः कारकैर्युक्ता स्थायी भावस्तथेतरैः ॥३७॥

जिस प्रकार वाच्य अथवा प्रकरण आदि के द्वारा गम्य क्रिया कारकों से युक्त होकर वाक्यार्थ बनता है, उसी प्रकार विभावादिकों से युक्त स्थायीभाव भी वाक्यार्थ की कोटि में आ सकता है ॥३७॥

जिस प्रकार 'गामभ्याज' इत्यादि लौकिक वाक्यों में स्ववाचक पद से श्रूयमाण तथा 'द्वार द्वार' इत्यादि में प्रकरण आदि बलात् बुद्धि में उपारूढ़ क्रिया ही कारकों से संसृष्ट होकर वाक्यार्थ बनती है उसी प्रकार काव्यों में कहीं 'प्रीत्यै नवोढा प्रिया' इत्यादि स्थल में स्ववाचक शब्द (प्रीतिवाचक शब्द) के उपादान करने से श्रूयमाण एवं कहीं प्रकरणादि बलात् नियत रूप से अभिधा के द्वारा प्रतिपादित विभाव आदि के साथ नित्य सम्बन्ध होने के कारण साक्षात् भावक के चित्त में स्फुरित होता हुआ रत्यादि स्थायीभाव ही अपने अपने उन विभावादिकों से जो उनके अभिधायक शब्दों द्वारा आवेदित किये गए हैं संस्कार परम्परा से परप्रौढ़ि को प्राप्त कराया जाता हुआ रस पदवी को प्राप्त करता है और वह वाक्यार्थ ही है।

अविश्रान्त ही रहता है—उस दशा में अभिधा की सहायता प्राप्त पदार्थों के परस्पर संसर्ग रूप वाक्यार्थ से जो द्वितीय कक्षा में प्रतीत होती है—जिज्ञासा शान्त नहीं होती अतः जब तक स्वार्थ में वाक्यार्थ विश्रान्त न हो तब तक द्वितीय कक्षा ही चलती रहती है। तृतीय कक्षा तो स्वार्थ विश्रान्ति के अनन्तर प्रारम्भ होती है और उसे व्यंग्य (कक्षा) कहते हैं। यहाँ द्वितीय कक्षा में क्रिया कारक संसर्ग रूप वाक्यार्थ अनुपपन्न इसलिए है कि इस वाक्य का वक्ता पिता अपने पुत्र को विष भक्षण में नियुक्त कैसे करेगा ?

पर सरस वाक्यों में विभाव आदि की प्रतीति द्वितीय कक्षा में होती है, रसों की नहीं। अतः रस रूप व्यंग्यार्थ की तृतीय कक्षा निर्विवाद सिद्ध हुई। कहा भी है—"स्वार्थ में प्रतिष्ठित न होने के कारण अविश्रान्त वाक्य जो तात्पर्य बोधित करना चाहता है उस तात्पर्यार्थ में तात्पर्यवृत्ति का ही मानना उचित है। किन्तु जब वाक्य स्वार्थ में विश्रान्त होकर प्रतिष्ठित हो चुका हो और फिर भी किसी अन्य अभिप्रेत अर्थ को बताने में उन्मुख हो तो उस अर्थ में निश्चय ही ध्वनि की स्थिति है। इस प्रकार सर्वत्र रस सर्वथा व्यंग्य ही रहेंगे। परन्तु वस्तु और अलंकार तो कहीं व्यंग्य और कहीं वाच्य होंगे। इस स्थिति में सभी व्यंग्य ध्वनि नहीं कहे जा सकते प्रत्युत वही जहाँ प्रधानतया तात्पर्य विषय बना हो। जहाँ व्यंग्यार्थ में प्रधान रूप से तात्पर्य नहीं हो वहाँ व्यंग्य के प्रधान न होने से गुणीभूत व्यंग्य की स्थिति होगी। कहा भी है—

'जिस स्थान में अपने अर्थ को गुणीभूत बनाकर शब्द एवं अपने ही को अप्रधान बनाकर अर्थ अन्य अर्थ के द्योतन में तत्पर होता है उसे विद्वानों ने ध्वनि नामक काव्य का एक (उत्तम) भेद माना है।

परन्तु जहाँ द्वितीय कक्षा वाक्यार्थ ही प्रधान होता है और रस आदि उसके अंग होते हैं ऐसे काव्य में रस आदि प्रधान के उपस्कारक होने के कारण अलंकार ही होते हैं।

इस पूर्वकथित सिद्धान्त पर यह पूर्वपक्ष खड़ा हो सकता है कि जिस प्रकार गीत आदि का उसके द्वारा उत्पन्न सुख से वाच्यवाचक भाव नहीं है, उसी प्रकार काव्य वाक्य से उत्पन्न रसादि का भी काव्य वाक्यों से वाच्यवाचक भाव का अभाव होना चाहिए।

पर यह कथन निम्नलिखित कारणों से ग्राह्य नहीं हो सकता—

यहाँ तो रसास्वाद उन्हीं को हो सकता है जिन्हें शब्द से निवेदित अलौकिक विभाव आदि सामग्री का ज्ञान है तथा उक्त प्रकार की रसादि भावना हो चुकी है अतः यहाँ गीत आदि की भाँति वाच्य वाचक भाव का उपयोग नहीं है यह कथन ठीक नहीं है। बिना वाच्य-वाचक भाव ज्ञान एवं सहृदयता के रस के कारणों का ही अन्तःकरण में उपस्थित होना असम्भव है। इस युक्ति से अब यह आपत्ति नहीं की जा सकती कि गीत आदि से उत्पन्न होनेवाले सुख का आस्वाद लेनेवाला जिस प्रकार वाच्य-वाचक भाव आदि से रहित व्यक्ति भी हो सकता है उसी प्रकार काव्य से उत्पन्न आस्वाद का भी वह आस्वादक बन सकेगा। वाक्यार्थ का इस प्रकार निरूपण हो जाने पर परिकल्पित अभिधा प्रभृति शक्ति की सहायता से ही समस्त रसादि रूप वाक्यार्थ का बोध हो जायगा अतः व्यंजना-जैसी दूसरी शक्ति की कल्पना प्रयास-मात्र ही है जैसा कि हमने काव्य निर्णय में बताया है—

ध्वनि काव्य की भित्ति है। व्यंजना-व्यापार और उक्त रीति से यह स्पष्ट तौर लिया कहा गया है कि व्यंजना-व्यापार तात्पर्य से पृथक् कोई तत्त्व नहीं है। अतः ध्वनि काव्य भी कोई पदार्थ नहीं है अथवा अन्य पदार्थ नहीं है। यदि हमारी उक्त व्यवस्था आपको स्वीकार नहीं है— अर्थात् प्रभूत तात्पर्य को आप तृतीय कक्षा का विषय मानकर व्यंग्य की एक तीसरी कोटि बनाते हैं और उसे वाच्यार्थ से भिन्न मानकर ध्वनि संज्ञा प्रदान करते हैं तो आपसे पूछते हैं कि जहाँ वाच्य का तात्पर्य शब्द से निवेदित नहीं है ऐसी अन्योक्ति अलंकृति में आप क्या करेंगे? वहाँ भी तो आप ध्वनि काव्य स्वीकार करेंगे? कदाचित्

हाँ इस पर यदि आप यह कहें कि वाक्यार्थ पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध से अभिनिष्पन्न होता है अतः वाक्यार्थ में पद से अभिहित पदार्थों की ही (संसर्गसहित) प्रतीति होगी जो पद से अभिधा के द्वारा प्रबोधित हों। ऐसे अपदार्थों की प्रतीति वाक्यार्थ में सम्भव नहीं। रति आदि भावों की यही स्थिति है वे दूसरे के द्वारा कभी भी बोधित नहीं हो सकते अतः अपदार्थ ही होंगे। और अपदार्थ रत्यादि (पुष्ट अथवा अपुष्ट) वाक्यार्थ कैसे बन सकेंगे ?

इस पर हमारा कथन यह है कि तात्पर्यार्थ ही वाक्यार्थ है ही इसे तो आप कथमपि अस्वीकार नहीं करेंगे और तात्पर्य कार्यसिद्धि करने पर पर्यवसित हुआ करता है। कहने का भाव यह है कि सभी वाक्य दो भागों में विभाजित किए जा सकते हैं—पौरुषेय और अपौरुषेय। और ये द्विविध वाक्य किसी-न-किसी उद्देश्य से प्रयुक्त होते हैं। यदि इनका कोई तात्पर्य नहीं—उद्देश्य नहीं तो वे उन्मत्तों के प्रलाप से अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध नहीं हो सकते। काव्य वाक्यों का यदि अन्वय व्यतिरेक से जिस कार्य के प्रति तत्परता देखी जाती है वह निरतिशय सुखास्वाद से अतिरिक्त कुछ नहीं है अतः आनन्दोत्पत्ति ही कार्य रूप से निर्णीत किया गया है। इस आनन्द के अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ का न तो काव्य प्रतिपादक है, जो प्रतीतिपथ में आएगा और न तो इसमें प्रतिबिम्बित प्रतीतिपथ में आनेवाला कोई पदार्थान्तर प्रतिपाद्य ही है। इस आनन्दोद्भूति का निमित्त विभाव आदि से सम्बन्धित स्थायी ही प्रधान होता है। अतः काव्य की अभिधान शक्ति (तात्पर्य) उस स्थान के (वाक्यार्थ रस रूप) स्थायी की निष्पत्ति के लिए अपेक्षित अवान्तर विभावादिकों का प्रतिपादन करती हुई पर्यवसन्न होती है। ऐसी स्थिति में आप विभाव आदि को तो पदार्थ स्थानीय समझें। इन्हीं से सम्पृक्त रत्यादि स्थायीभाव वाक्यार्थ पदवी प्राप्त करते हैं अर्थात् रस इस प्रकार द्वितीय कक्षा में प्रविष्ट होनेवाला वाक्यार्थ ही है। इस प्रकार काव्य वाक्य ही है जिसका अर्थ पदार्थ एवं वाक्यार्थ दोनों ही है।

इस पूर्वकथित सिद्धान्त पर यह पूर्वपक्ष खड़ा हो सकता है कि जिस प्रकार गीत आदि का उसके द्वारा उत्पन्न सुख से वाच्यवाचक भाव नहीं है उसी प्रकार काव्य वाक्य से उत्पन्न रसादि का भी काव्य वाक्यों से वाच्यवाचक भाव का अभाव होना चाहिए।

पर यह कथन निम्नलिखित कारणों से ग्राह्य नहीं हो सकता—

यहाँ तो रसास्वाद उन्हीं को हो सकता है जिन्हें शब्द से निवेदित अलौकिक विभाव आदि सामग्री का ज्ञान है तथा उक्त प्रकार की रत्यादि भावना हो चुकी है अतः यहाँ गीत आदि की भाँति वाच्य वाचक भाव का उपयोग नहीं है यह कथन ठीक नहीं है। बिना वाच्य-वाचक भाव ज्ञान एवं सहृदयता के रस के कारणों का ही अन्तःकरण में उपस्थित होना असम्भव है। इस युक्ति से अब यह आपत्ति नहीं की जा सकती कि गीत आदि से उत्पन्न होनेवाले सुख का आस्वाद लेनेवाला जिस प्रकार वाच्य-वाचक भाव आदि से रहित व्यक्ति भी हो सकता है, उसी प्रकार काव्य से उत्पन्न आस्वाद का भी वह आस्वादक बन सकेगा। वाक्यार्थ का इस प्रकार निरूपण हो जाने पर परिकल्पित अभिधा प्रभृति शक्ति की सहायता से ही समस्त रसादि रूप वाक्यार्थ का बोध हो जाएगा अतः व्यंजना-जैसी दूसरी शक्ति की कल्पना प्रयास-मात्र ही है जैसा कि हमने काव्य-निर्णय में बताया है—

ध्वनि काव्य की स्थिति है। व्यंजना-व्यापार और उक्त रीति से यह स्पष्ट देख लिया गया है कि व्यंजना-व्यापार तात्पर्य से पृथक कोई तत्त्व नहीं है। अतः ध्वनि काव्य भी कोई पदार्थ नहीं है अथवा अन्य पदार्थ नहीं है। यदि हमारी उक्त व्यवस्था आपको स्वीकार नहीं है— अर्थात् प्रभूत तात्पर्य को आप तृतीय कक्षा का विषय मानकर व्यंग्य की एक तीसरी कोटि बनाते हैं और उसे वाच्यार्थ से भिन्न मानकर ध्वनि संज्ञा प्रदान करते हैं तो आपसे पूछते हैं कि जहाँ वाच्य का तात्पर्य शब्द से निवेदित नहीं है ऐसी अन्योक्ति प्रभृति में आप क्या करेंगे? वहाँ भी तो आप ध्वनि काव्य स्वीकार करेंगे? यद्यपि

नहीं कर सकते। फिर इस अव्यवस्थित व्यवस्था में क्या आस्था ?

अथवा इस श्लोक के पूर्वार्द्ध को तात्पर्यवादी का एवं उत्तरार्द्ध को व्यञ्जनावादी का मत समझिए। फिर पूर्वार्द्ध की व्याख्या तो ऊपर के अनुसार कीजिए, रही बात उत्तरार्द्ध की सो उसे यों लगाइए—

'या विठि धार्मोटकम्' इत्यादि अन्योक्ति के उदाहरण में वहाँ तात्पर्य अथवा भ्रमणाभाव नहीं है—आप क्या कहेंगे? अर्थात् वहाँ अमुक तात्पर्य है, यह कैसे कह सकेंगे? बात यह है कि— 'तात्पर्य वक्तुरिच्छा' तात्पर्य वक्ता की इच्छा का नाम है। यहाँ पर धार्मोटक में इच्छा सम्भव नहीं है, अतः इस स्थल पर तात्पर्य कहाँ सम्भव है? अतः यहाँ निषेध जो द्योतित हो रहा है उसे धार्मोटिक का तात्पर्य कैसे कहेंगे? इस स्थिति में यह तात्पर्य भी न बन सकेगा। पर व्यङ्ग्यार्थ के होने में क्या हानि है? अतः व्यङ्ग्यार्थ की पृथक् कल्पना करनी ही पड़ेगी जिसके ऊपर ध्वनि की अट्टालिका सुदृढ़ खड़ी की जा सकती है ॥१॥

'विष भक्षय मा चास्य' इत्यादि व्याख्या से प्रतीयमान में प्रकाश्य तात्पर्य के होने से प्रसज्यमान ध्वनि का निषेध कौन कर सकता है?

ध्वनिवादी व्यङ्ग्य एवं तात्पर्य का भेद दिखाते हुए कहता है कि ध्वनि तब होती है जब स्वार्थ में प्रतिष्ठित होकर वाक्य अर्थान्तर का बोध कराए और यदि स्वार्थ में अविश्रान्त होकर अर्थान्तर की प्रतीति वाक्य कराता हो तो तात्पर्यार्थ कहा जाता है ॥२॥

परन्तु ध्वनिवादियों के इस भेद कथन में अरुचि का कारण यह है कि वाक्य की तब तक विश्रान्ति ही नहीं होती जब तक पूर्ण अभिप्रेत अर्थ को न दे देता हो। अथवा यह कह सकते हैं कि यदि अर्थान्तर भी उससे निकलता है तो उसके पूर्व वाक्य की विश्रान्ति ही सम्भव नहीं है। इस प्रकार यह उक्त भेद जिस विश्रान्ति के आधार पर किया गया है वही असम्भव है। वस्तुतः यह भेद का कारण नहीं है। अतः तात्पर्य और ध्वनि एक ही चीज है, इनमें पार्थक्य नहीं है ॥३॥

एतावन्मात्र अर्थ में ही विश्रान्ति होती है। यह नियम किसने

बनाया है? तात्पर्य तो कार्यपर्यवसायी होता है—जब तक अभिप्रेत अर्थ नहीं मिलता तब तक वाक्य का कार्य समाप्त नहीं होता। तात्पर्य तराजू पर रखकर तोला थोड़े ही गया है जो तात्पर्य एक घेरा के भीतर ही रहेगा। तात्पर्य यहाँ तक होगा और आगे व्यंग्यार्थ होगा इसका कोई माप नहीं है। इस रीति से व्यंग्य और तात्पर्य अभिन्न हैं।

ध्वनिवादी ध्वनि के लिए फिर दलील पेश करता है—

'भ्रम धार्मिक विस्रब्ध' इत्यादि वाक्य भ्रमण-रूप अर्थ का ही प्रतिपादक है। यहाँ पर भ्रमण का निषेधबोधक पद तो है नहीं जिससे वाच्य अर्थ से भ्रमण के निषेध का बोध हो सके। पर हमारे मत से तो वाच्य अवबोधकाल में विस्रब्ध भ्रमण रूप विध्यात्मक अर्थ का बोध कराकर एक प्रकार से वाच्य विश्रान्त हो जाता है उसके बाद कुलटा स्त्री की विशेषता के ज्ञात होने से उसका उद्देश्य भ्रमण के निषेध-रूप अर्थ में ज्ञात होता है। इस प्रकार व्यंग्यार्थ की पृथक् सत्ता विश्रान्ति के अनन्तर प्रतीति से पूर्व ही होने से सम्भव है ॥५॥

[ध्वनि के खण्डन करनेवाले ग्रन्थकार इसका उत्तर निम्नलिखित प्रकार से देते हैं]—

श्रोता की आकांक्षा निवृत्ति के लिए यदि उक्त वाक्य में विश्रान्ति मान ली जाती है और विश्रान्ति के सम्भव होने से व्यंग्यार्थ की सत्ता स्वीकार कर ली जाती है तो हम यह कह सकते हैं कि वक्ता के विवक्षित अर्थ का ज्ञान जब तक नहीं होता तब तक विनिगमन के अभाव में वाक्य की अविश्रान्ति ही क्यों न मान ली जाए ॥६॥

पौरुषेय वाक्य किसी-न-किसी सामान्य विवक्षा से उच्चरित होते हैं अतः वक्ता का सम्पूर्ण अभिप्रेत अर्थ वाक्य का तात्पर्य ही कहा जाएगा और जब तक अभिप्रेत अर्थ का विनिश्चित अर्थ न पा जाए तब तक विश्रान्ति ही नहीं क्योंकि जब वाक्य विश्रान्त हो जाएगा तो फिर वह अन्य अर्थ का प्रत्यायन क्यों करेगा? और यदि फिर भी करता है तो इसका स्पष्ट अर्थ है कि अभी वह विश्रान्त नहीं हुआ है ॥७॥

नहीं कर सकते। फिर इस अव्यवस्थित व्यवस्था में क्या आस्था ?

अथवा इस श्लोक के पूर्वार्द्ध को तात्पर्यवादी का एवं उत्तरार्द्ध को व्यञ्जनावादी का मत समझिए। फिर पूर्वार्द्ध की व्याख्या तो प्रकार के अनुसार कीजिए वही बात उत्तरार्द्ध की तो उसे यों लगाइए—

'मा विधि धावोटकम्' इत्यादि अन्योक्ति के उदाहरण में यदि तात्पर्य अन्यतः श्रूयमाण नहीं है—आप क्या कहेंगे ? अर्थात् यहाँ अमुक तात्पर्य है, यह कैसे कह सकेंगे ? बात यह है कि—"तात्पर्य वस्तुतः वक्ता की इच्छा का नाम है। यहाँ पर घाघोटक में इच्छा सम्भव नहीं है, अतः इस स्थान पर तात्पर्य कहाँ सम्भव है ? अतः यहाँ निर्वेद को द्योतित हो रहा है, उसे घाघोटक का तात्पर्य कैसे कहेंगे ? इस स्थिति में यह तात्पर्य भी न बन सकेगा। पर व्यंग्यार्थ के होने में क्या हानि है ? अतः व्यंग्यार्थ की पृथक् कल्पना करनी ही पड़ेगी जिसके ऊपर ध्वनि की अट्टालिका सुदृढ़ खड़ी की जा सकती है ॥१॥

'भिप मसम मा भास्म' इत्यादि व्याख्या से प्रतीयमान में प्रधानतः तात्पर्य के होने से प्रसज्यमान ध्वनि का निषेध कौन कर सकता है ?

ध्वनिवादी व्यंग्य एवं तात्पर्य का भेद दिखाते हुए कहता है कि ध्वनि तब होती है जब स्वार्थ में प्रतिष्ठित होकर वाक्य अर्थान्तर का बोध कराए और यदि स्वार्थ में अविश्रान्त होकर अर्थान्तर की प्रतीति वाक्य कराता हो तो तात्पर्यार्थ कहा जाता है ॥२॥

परन्तु ध्वनिवादियों के इस भेद कथन में आपत्ति का कारण यह है कि वाक्य की तब तक विश्रान्ति ही नहीं होती जब तक पूर्ण अभिप्रेत अर्थ को न दे देता हो अथवा यह कह सकते हैं कि यदि अर्थान्तर की उससे निराकांक्षा है तो उसके पूर्व वाक्य की विश्रान्ति ही सम्भव नहीं है। इस प्रकार यह उक्त भेद जिस विश्रान्ति के आधार पर किया गया है वही असम्भव है। वस्तुतः यह भेद का कारण नहीं है अतः तात्पर्य और ध्वनि एक ही चीज है इनमें पार्थक्य नहीं है ॥३॥

एतावन्मात्र अर्थ में ही विश्रान्ति होती है। यह नियम किसके

रसिकनिष्ठता का अर्थात् वह रसिक में उक्त स्थायी ही रहता है। उस रस का अनुकार्य से कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि वह रसकाल में वर्तमान ही नहीं रहता और रसवान् काव्य अनुकार्य के लिए लिखे भी नहीं जाते ॥३८॥

द्रष्टुः प्रतीतिर्व्रीडेर्ष्यारागद्वेषप्रसक्तितः ।
लौकिकस्य स्वरमणीसंयुक्तस्येव दर्शनात् ॥३९॥

अनुकार्य से सम्बन्ध मानने पर अन्य आपत्ति यह है कि वह अपनी स्त्री से संयुक्त किसी लौकिक नायक का शृंगार आदि का प्रतीति मात्र होगा उसमें रसता नहीं रहेगी। अथवा देखनेवाले के स्वभावतः व्रीड़ा ईर्ष्या राग द्वेष का भी प्रसंग आ सकता है ॥३९॥

'सः' (वह) इस सर्वनाम से काव्यार्थ से उद्भावित रसिक निष्ठ रत्यादि स्थायीभाव का परामर्श किया जाता है, वह आनन्दात्मक ज्ञान रूप आस्वादवाला रस रसिकवर्ती इसलिए है कि उस स्थिति में (स्वादरूप प्रतीति काल में) रसिक ही वहाँ वर्तमान है अनुकार्य राम आदि से उस रस का सम्बन्ध इसलिए नहीं है कि वह उस समय है ही नहीं वह तो अतीत की कोटि में चला गया है।

यद्यपि वह अनुकार्य शब्द के माध्यम से अवर्तमान होता हुआ भी वर्तमान की भाँति ज्ञात पड़ता है फिर भी अनुकार्य का अवभास हम लोगों को स्पष्टतः अनुभूत नहीं होता अतः वह न होने के ही समान है और जो कुछ थोड़ा-बहुत अवभासित होता है वह तो आवश्यक ही है, क्योंकि उसके बिना राम आदि की विभावरूपता भी तो नहीं बनेगी। विभाव राम आदि यदि किसी रूप से भी नहीं रहेंगे तो रसोत्पत्ति ही नहीं हो सकती। दूसरी बात राम आदि को रसानुभावकों की कोटि में न गिनने का यह भी है कि काव्य का अनुभव अनुकार्य को नहीं प्रत्युत सहृदयों को होता है। अतः रसानुभूति हो इसलिए इसका निर्माण होता है। यह तथ्य समस्त भावकों को स्वयं अनुभूत है।

यदि राम आदि अनुकार्य को शृंगार आदि रस अनुभूत होता तो नाटक

इस रत्यादि का काव्य के साथ व्यंग्य-व्यंजक भाव भी सम्भव नहीं है। तो क्या फिर इनका आपस में भाव्य-भावक सम्बन्ध होगा ?

हाँ वस्तुतः काव्य है भावक और रस है भाव्य। वे स्वयं होते हुए अलौकिक विभाव का काम रखनेवाले सहृदय से भावना के विषय बनाए जाते हैं। यद्यपि अन्यत्र अर्थात् काव्य से अतिरिक्त वेदादि वाङ्मय की अन्य शाखाओं में शब्द का प्रतिपाद्य के साथ भाव्य भावक सम्बन्ध नहीं देखा गया है अतः यहाँ स्वीकार करने में कुछ व्यंग्य प्रतीत होता तथापि भावना-व्यापार माननेवालों ने ऐसा काव्य ही में होने के कारण स्वीकार किया है। दूसरी बात यह है कि अन्यत्र शब्द का रत्यादि के प्रति अन्वय-व्यतिरेक बलात् कारणता नहीं देखी गई है और यहाँ कारण सहृदय हृदय से अनुभूत है। इस पक्ष के अनुकूल एक उक्ति भी है—

नाट्य-प्रयोक्ताओं ने भाव की संज्ञा इसलिए दी है कि इनसे और अभिनय से अथवा भाव के अभिनय से इनका सम्बन्ध होने के कारण वे रस को भावित करते हैं।

प्रश्न उठता है कि पदों से स्थायी आदि भावों की प्रतिपत्ति कैसे होगी ? पद उन्हीं के अभिधायक हो सकते हैं जिन पदों की शक्ति होती है। भावनावादियों का उत्तर यह है कि लोक में जिस प्रकार के भावों की बोधिका जो चेष्टाएँ होती हैं स्त्री पुरुष में वैसा ही यदि काव्य में भी उपनिबद्ध है तो रत्यादि भावों के नित्यबोधक चेष्टाओं के प्रति पादक शब्द के सुनने से शब्द प्रतीति चेष्टा रूप अभिधेय स्वसम्बन्ध भाव की प्रतीति कराएगा ही। प्रतीति 'अभिधेयाविनाभूत' होने के कारण लाक्षणिकी नहीं कहाएगी। भाव्यार्थ की भावुकता और भी आगे बताई जाएगी।

रस स एव स्वाद्यत्वाद्रसिकस्यैव वर्तनात् ।
नानुकार्यस्य वृत्तत्वात्काव्यस्यातत्परत्वतः ॥३८॥

रस पद से काव्य में वर्णित विभाव आदि से पुष्ट स्थायीभाव की ही प्रतीति होती है क्योंकि आस्वाद्य वही है। दूसरा तर्क है उसकी

मे उसको देखने से लौकिक शृङ्गार की भाँति उस शृङ्गारी लौकिक नायक के समान का अपनी स्त्री से संयुक्त है दर्शन से केवल यही प्रतीत होता है कि अमुक नाम का यह शृंगारी है। इसके अतिरिक्त यहाँ रसास्वाद नहीं होता है। तटस्थों को तो जिस प्रकार लौकिक शृङ्गार का दर्शन लज्जास्पद है उसी प्रकार यह भी होता अन्य पुरुषों को ईर्ष्या असूया अनुराग अपहरण इत्यादि की भावनाएँ भी जागृत होती। [पर ऐसा नहीं होता अतः अनुकार्य मे आश्रित शृङ्गार आदि रस नहीं होते।]

इस प्रकार रस व्यंग्य नहीं हो सकता। कारण यह है कि व्यंग्य वही कहा जा सकता है जिसकी सत्ता अभिव्यंजक से पूर्व ही स्थित हो उदाहरणार्थ जैसे प्रदीप से (व्यंग्य) घट। व्यंजक प्रदीप से घट की सत्ता का कोई सम्बन्ध नहीं है अभिव्यंग्य अभिव्यंजक से अपनी सत्ता प्राप्त नहीं करता केवल प्रकाशित मात्र होता है। और यह बात पहले ही स्पष्ट कर दी गई है कि प्रेक्षकों मे रस विभाव आदि से प्रकाशित न होकर अनुभूयमान होते हैं।

अब एक शंका यह होती है कि सामाजिक मे होनेवाले रस का विभाव कौन है? और किस प्रकार सीता आदि देवियों जो पूज्य हैं उनके भी विभाव बनने मे कोई विरोध नहीं होता? इसका उत्तर इस प्रकार से दिया जाता है।

धीरोदात्त आदि अवस्थाओं के अभिनायक राम आदि रत्यादि को सामाजिकों के अन्तःकरण मे अङ्कुरित करते हैं और वे अङ्कुरित रत्यादि रसिक को आस्वाद्यमान होते हैं।

हाँ ध्यान देने की बात यह है कि कवि कोई योगी तो है नहीं जो अपनी समाधि मे ध्यान द्वारा वैयक्तिक रूप से राम आदि अवस्थाओं को इतिहासकार की भाँति काव्य मे लिख देता। फिर होता क्या है?

होता यह है कि कवि अपनी कल्पना से केवल उन अवस्थाओं की सामान्य रूप से सम्भावना कर किसी भी उत्तम नाम से उसका वर्णन कर देता है।

धीरोदात्ताद्यवस्थानां रामादिः प्रतिपादकः ।
विभावयति रत्यादीन्स्वदन्ते रसिकस्य ते ॥४०॥

और फिर वही सीता प्रभृति साधारण नायिका के रूप में रस के विभाव बन जाती हैं । और तब सीता आदि शब्द जनक की पुत्री के इस अर्थ का प्रतिपादन करनेवाले नहीं रह जाते । इस अर्थ के प्रतिपादन की उनकी (सीता आदि) की शक्ति क्षरित हो जाती है ॥४० ॥

वे स्त्री मात्र के वाचक रहकर अनिष्ट उत्पादन से रहित हो जाते हैं । फिर प्रश्न यह हो सकता है कि यदि उनकी प्रतीति सामान्य रूप से ही उपयोगी होती है तो उनका विशेष रूप से काव्य में वर्णन करने की क्या आवश्यकता है ? भाव यह कि यदि सीता को सीता रूप से जान लेने से कोई लाभ नहीं तो उन्हें काव्य का विषय बनाया ही क्यों जाता है ?

ता एव च परित्यक्तविशेषा रसहेतवः ।
क्रीडतां मृण्मयैर्यद्वद्बालानां द्विरदादिभिः ॥४१॥

इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार मिट्टी के बने असत्य हाथी आदि से खेलते हुए बालकों को उत्साह और आनन्द मिलता है उसी प्रकार असत्य अर्जुन आदि से श्रोताओं को अपना उत्साह भी अनुभूत होने लगता है ॥४१॥

कहने का भाव यह है कि जिस प्रकार लौकिक शृङ्गार में स्त्री आदि का उपयोग होता है उसी प्रकार यहाँ भी होता हो सो बात नहीं है । वस्तुतः उक्त रीति से लौकिक रस से नाट्य रसों की विलक्षणता है । कहा भी है—

'नाट्य में आठ ही रस होते हैं ।

स्वोत्साहः स्वदते तद्वच्छ्रोतृणामर्जुनादिभिः ।
काव्यार्थभावनास्वादो नर्तकस्य न वार्यते ॥४२॥

यदि काव्यार्थ की भावना बलात् नर्तक को भी आस्वाद हो जाए तो हम उसे अस्वीकार नहीं करते ॥४२॥

न उनको देखने से लौकिक शृङ्गार की भाँति उस शृङ्गारी लौकिक नायक के समान या अपनी स्त्री से संयुक्त है दर्शन से केवल यही प्रतीत होता है कि अमुक नाम का यह शृंगारी है। इसके अतिरिक्त यहाँ रसास्वाद नहीं होता है। सत्पुरुषों का तो जिस प्रकार लौकिक शृङ्गार का दर्शन लज्जास्पद है उसी प्रकार यह भी होता अन्य दुष्टों को ईर्ष्या, असूया अनुराग अपहरण इत्यादि की भावनाएँ भी जागृत होतीं। [पर ऐसा नहीं होता अतः अनुकार्य में आश्रित शृङ्गार आदि रस नहीं होते।]

इस प्रकार रस व्यंग्य नहीं हो सकता। कारण यह है कि व्यंग्य वही कहा जा सकता है जिसकी सत्ता अभिव्यञ्जक से पूर्व ही स्थित हो, उदाहरणार्थ जैसे प्रदीप से (व्यङ्ग्य) घट। व्यञ्जक प्रदीप व घट की सत्ता का कोई सम्बन्ध नहीं है अभिव्यङ्ग्य अभिव्यञ्जक से अपनी सत्ता प्राप्ति नहीं करता केवल प्रकाशित मात्र होता है। और यह बात पहले ही स्पष्ट कर दी गई है कि प्रेक्षकों में रस विभाव आदि से प्रकाशित न होकर अनुभाव्यमान होते हैं।

अब एक शंका यह होती है कि सामाजिक में होनेवाले रस का विभाव कौन है? और किस प्रकार सीता आदि देवियों को पूज्य हैं उनके भी विभाव बनने में कोई विरोध नहीं होता? इसका उत्तर इस प्रकार से दिया जाता है।

धीरोदात्त आदि अवस्थाओं के प्रतिपादक राम आदि रत्यादि को सामाजिकों के अन्तःकरण में अङ्कुरित करते हैं और वे अङ्कुरित रत्यादि रसिक को आस्वाद्यमान होते हैं।

हाँ ध्यान देने की बात यह है कि यदि कोई योगी तो है नहीं जो अपनी समाधि में ध्यान द्वारा वैयक्तिक रूप से राम आदि अवस्थाओं को इतिहासकार की भाँति काव्य में लिख देता। फिर होता क्या है?

होता यह है कि कवि अपनी कल्पना से केवल उन अवस्थाओं की सामान्य रूप से सम्भावना कर किसी भी उत्तम नाम से उसका वर्णन कर देता है।

है। चित्त की अवस्था को ही लक्ष्य में रखकर हास्य आदि का शृंगार आदि के साथ जन्य-जनक भाव कहा गया है। कार्य-कारण की दृष्टि से रखकर नहीं कहा गया है।

श्लोकार्थ—'शृंगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत और बीभत्स से भयानक की उत्पत्ति होती है।

इस उत्पत्ति का रहस्य उसी चित्तवृत्ति की अवस्था से सम्बन्ध रखता है। शृंगार से हास्य उत्पन्न नहीं होता प्रत्युत अपने ही विभावादिकों से होता है—'शृंगारानुकृतिर्यास्तु' इत्यादि श्लोक से शृंगार एवं हास्य की एक ही प्रकार की चित्तवृत्ति की अवस्था का स्फुटीकरण होता है। और अवधारण भी इसीलिए उपपन्न हो जाता है—चित्तवृत्ति की चार अवस्था दुगुनी होकर आठ ही होती है अतः तदनुकूल रसों की भी नियत संख्या ८ ही है। भेदान्तर के अभाव से ९वाँ रस नहीं हो सकता।

सभी रसों की सुखरूपता—लोक में शृंगार, वीर, हास्य प्रभृति के प्रमोदात्मक होने (शंका) से सुखस्वरूप होने में किसी बात की शंका नहीं होती पर दुःखात्मक करुण आदि से सुखात्मकता का अनुभव होना कैसे सम्भव है? कारण यह है कि दुःखात्मक करुण-काव्यों के श्रवण से दुःख का आविर्भाव एवं अश्रुपात आदि रसिकों को भी अनुभूत है। यदि वे सुखात्मक होते तो ऐसा क्यों होता?

समाधान—बात तो ठीक ही है परन्तु यह सुख वैसा ही सुख दुःखात्मक है जैसा कि सम्भोगावस्था के कुट्टमित में प्रहरण आदि करने पर स्त्रियों को होता है। दूसरी बात यह भी है कि लौकिक करुण से काव्य का करुण कुछ विलक्षण होता है। यहाँ उत्तरोत्तर रसिकों की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। यदि लौकिक करुण के समान यहाँ का भी करुण दुःख देनेवाला होता तो दर्शकों और (पाठकों) की कभी प्रवृत्ति ही (नाटक देखने और काव्य-श्रवण में) नहीं होती। फलस्वरूप करुण रस का निधान रामायण आदि में किसी की प्रवृत्ति न होने से उनका उच्छेद ही हो जाता। रही अश्रुपात की बात सो वह लोकवृत्त

अभिनय-काल में जो दर्शक को रस का आस्वाद होता है वह लौकिक रस की भाँति नहीं होता है। कारण यह है कि वह अभिनय-काल में अभिनेत्री को अपनी स्त्री के रूप में नहीं समझता। काव्यार्थ की भावना से वशीभूत होकर यदि वह भी सामाजिकों के समान ही रस का अनुभव करे तो उसे हम नहीं रोकते।

काव्य से किस प्रकार स्वानन्द की अनुभूति होती है और उसका स्वरूप क्या है अब यह बताया जाएगा—

स्वादः काव्यार्थसम्भेदादात्मानन्दसमुद्भवः ।
विकासविस्तरक्षोभविक्षेपैः स चतुर्विधः ॥४३॥

भाव्यमान काव्यार्थ से अनुभूयमान आत्मानन्द है यही रस पद का अर्थ है। वह स्वाद, शृंगार, वीर, बीभत्स एवं रौद्र में क्रमशः मन के विकास, विस्तार, विक्षोभ और विक्षेप अवस्था वश चार प्रकार का होता है ॥४३॥

शृङ्गारवीरबीभत्सरौद्रेषु मनसः क्रमात् ।
हास्याद्भुतभयोत्कर्षकरुणानां त एव हि ॥४४॥
अतस्तज्जन्यता तेषामत एवावधारणम् ।

क्रमशः हास्य, अद्भुत, भय एवं करुण में भी मन की यही अवस्थाएँ होती हैं। यही कारण है कि पूर्व के चारों का (शृंगार-वीर-बीभत्स-रौद्र का) अनन्तर अनुक्रम (हास्य-अद्भुत-भयानक-करुण का) का जनक कहा गया है। और यही रहस्य अवधारण (केवल आठ ही) में अवधारण का भी है ॥४५॥

काव्यार्थ विभाव आदि से सम्बन्धित स्थायी स्वरूप है। इस प्रकार के काव्यार्थ से भावक का चित्त अनुकार्य की चित्तावस्था की समता प्राप्त कर लेता है। यहाँ राग-द्वेष का मूल मैं-तुम का भाव तिरोहित हो जाता है—इस अवस्था के अनन्तर जो अवान्तर स्वानन्द की अनुभूति होती है वही है स्वाद। यद्यपि यह स्वादरूपता सकल रसों में एकरूप है तथापि नियत विभाव आदि से कारण चित्त की चार अवस्थाएँ होती

काव्य व्यापार के द्वारा खूब अच्छी तरह से वर्णन किया हुआ जो चन्द्रमा आदि उद्दीपन विभाव और प्रमदा आदि रूप आलम्बन विभाव रोमाञ्च भ्रूक्षेप और कटाक्ष विक्षेप आदि अनुभाव तथा निर्वेद आदि संचारीभाव जो पदार्थ स्थानीय हैं इनसे अवान्तर व्यापार के द्वारा पोष को प्राप्त होनेवाला स्थायीभाव रस नाम से पुकारा जाता है। इतना ही पहले प्रकरण में किये गए वर्णन का तात्पर्य रहा है ॥४६॥

अब इनके विशेष लक्षणों को बताया जा रहा है। आचार्य (भरत) ने स्थायीभावों रत्यादिकों और शृंगार आदि रसों का पृथक्-पृथक् लक्षण न देकर केवल विभाव आदि के प्रतिपादन के द्वारा ही दे दिया है। [अत मैं भी वैसा ही कर रहा हूँ।]

लक्षणैक्य विभावैक्यादभेदाद्रसभावयो ॥४७॥

शृंगार आदि रसों और रत्यादि स्थायीभावों के लक्षण एक ही हैं क्योंकि शृंगार आदि रस और रत्यादि भावों मे कोई अन्तर नहीं है ॥४७॥

रम्यदेशकलाकालवेषभोगादिसेवनै ।
प्रमोदात्मा रति सैव यूनोरन्योन्यरक्तयो ।
प्रहृष्यमाणा शृङ्गारो मधुराङ्गविचेष्टितै ॥ ४८॥

एक चित्त के दो व्यक्तियों (युवक और युवती) में आनन्दस्वरूप रति का सुन्दर स्थान (बाग-बगीचे एकान्त स्थान आदि) सुन्दर कलाओं (चित्रकला आदि में निपुणता) सुन्दर समय (सन्ध्या आदि) और सुन्दर भोग विलासों तथा मधुर आंगिक चेष्टाओं (कटाक्ष विक्षेप आदि) के द्वारा परिपोष के प्राप्त होने को शृंगार (रस) कहते हैं ॥४८॥

इस प्रकार का वर्णन युक्त काव्य शृंगार के आस्वाद की योग्यता को धारण करता है, अत कवियों को अपने वर्णन में बातों का ध्यान रखना चाहिए।

देश (स्थान) के विभाव का वर्णन जैसे 'उत्तर रामचरित' में राम की यह उक्ति—

के मार्गदर्शन से लौकिक विकलता के समान विकलतामय यदि हो ही जाए तो उसका हमारे पक्ष से कोई विरोध नहीं है। अतः रसान्तर के समान करुण रस को भी भावनात्मक ही मानना चाहिए।

शान्त रस के अभिनेय न होने के कारण यद्यपि नाट्य में उसका अनुप्रवेश असम्भव है तथापि श्रव्य काव्य में उसका निषेध इसलिए नहीं अस्वीकार किया जा सकता क्योंकि वहाँ तो शब्द का राज्य है। शब्द से जब अतन्मात्र बातें भी बाँधी जा सकती हैं तो फिर शान्त का वर्णन क्यों नहीं हो सकता?

कहा जाता है—

शमप्रकर्षो निर्वाच्यो मुदितादेस्तदात्मता ॥४५॥

'शम का प्रकर्ष (शान्त) अकथनीय है, मुदिता प्रभृति वृत्तियों से उसे प्राप्त किया जा सकता है ॥४५॥

यदि शान्त रस का स्वरूप—

'जहाँ सुख, दुःख, चिन्ता, द्वेष, राग या इच्छा आदि का अभाव हो वही शान्त रस का स्वरूप है' ऐसा मुनीन्द्रों का कहना है, पर सभी भावों में यह सम प्रधान है।

यही है तो उसकी प्राप्ति मोक्षावस्था ही में स्वरूप-प्राप्ति पर होती है। स्वरूपतः उसकी अनिर्वचनीयता का प्रतिपादन श्रुति भी 'नेति' 'नेति' कहकर अन्यापोह रूप से ही करती है। इस प्रकार न शान्त रस का आस्वाद सहृदयों को नहीं होता। फिर उसके आस्वाद के उपाय रूप मुदिता आदि वृत्तियाँ हैं और वे क्रमशः विकास, विस्तार, क्षोभ, विक्षेप रूप हैं अतः इस दृष्टि से ही शान्त रस के आस्वाद का निरूपण होता है।

इस समय विभावादि से सम्मिलित जो पदार्थ काव्य-व्यापार हैं उनके प्रदान के साथ-साथ प्रकरण का उपसंहार किया जा रहा है—

पदार्थैरिन्दुनिर्वेदरोमाञ्चादिस्वरूपकैः।
काव्याद्विभावसञ्चार्यनुभावप्रख्यतां गतैः ॥४६॥
भावितः स्वदते स्थायी रसः स परिकीर्तितः।

सम्भोग के विभाव का वर्णन जैसे—कोई अपनी सखी से कहती है कि ऐ मान करनेवाली ! ऐसा लगता है कि तेरे प्रणयी ने किसी प्रकार से तेरे मान को तोड़ डाला है और इसीसे तुम्हारा कुछ मन भी बदला हुआ-सा लग रहा है। तेरा मान भग्न हुआ है इसमें ये चारों प्रमाण रूप में प्रस्तुत हैं—१ तेरी आँख का काजल साफ हो गया है। २ अधर भाग में लगी हुई पान की ललाई चाट डाली गई है। ३ कपोल-फलक पर केशपाश बिखरे पड़े हैं और ४ तुम्हारे शरीर की कान्ति भी कोमल हो गई है।

आलम्बनस्वरूप रति का उदाहरण जैसे 'मालती माधव' में—

'जब इन्दु प्रसादि विभाव सबै जग मैं बिरही मन चीतत हाल ।
हिम औरसु के सहचारक हैं उमटे इत वेही लगावत ज्वाल ॥
नहिं जो यह लोचन चन्द्रिका चारु बसी इन नैननि रूप रसाल ।
जग मेरे तो जन्म न सोही महोत्सव (महोत्सव)
एकहि बार न होहुँ निहाल ॥

पुरुष का विभाव जैसे 'मालविकाग्निमित्र' में—

राजा मन-ही-मन सोच रहा है—वाह ! यह तो सिर से पैर तक एकदम सुन्दर है। क्योंकि इसकी बड़ी-बड़ी आँखें चमकता हुआ शरद् के चन्द्रमा जैसा मुख कन्धों पर थोड़ी झुकी हुई भुजाएँ, उभरते हुए कड़े स्तनों से कसी हुई छाती चिकने-से पार्श्व प्रदेश मुट्ठी भर की कमर मोटी-मोटी जाँघें और छोटी-छोटी झुकी हुई दोनों पैरों की उँगलियाँ सब ऐसी जान पड़ती हैं मानो इसका शरीर इसके नाट्यगुरु (गणदासजी) के कहने पर ही गढ़ा गया हो।

युवक और युवती दोनों के विभाव जैसे 'मालती माधव' (१।१०) में—

अपनी जो गलीन में बारहिं बार भमै यह माधव चारु काम ।
निज ऊँची अटारी पै बैठि कै बारहिं बार बिलोकति मालती बाम ॥
यह काम-सी बर निहारि निहारि भयी बिनकी रति-सी अभिराम ।
सकुचै पुलकै हुलसै मनमें पर दोऊ कुबोलत पंथ ललाम ॥

हे सुन्दरि उस पर्वत से सरमम द्वारा की गई गुफा से स्वस्थ हम दोनों के उस दिन की याद करती हो ? अथवा वहाँ स्वादु जलवाली गोदावरी की याद करती हो ? तथा गोदावरी के तट पर हम दोनों के रहन की याद करती हो ?

कला का विभाव जैसे— 'अन्तर्निहित है वचन जिसमें ऐसे हाथों द्वारा अच्छी तरह से अर्थ की सूचना मिल जाती है। पाद विक्षेप से लय में तन्मयता के भाव लय प्राप्त हो जाती है। मृदु अभिनय वहाँ प्रकार के अभिनयों का उत्पत्ति स्थान है। और प्रत्येक भाव में रागरूप विकर्षों का पक्षण करना है।

अथवा जैसे— श्रीमुखवाहन कह रहे हैं—"इसकी वीणा के तीनों वर्णों में इसने प्रकार के व्यञ्जन धातुओं (वीणा वाद्य के स्वर के १ भेदों) का प्रारम्भ हो गया है। द्रुत मध्य और लम्बित में तीनों प्रकार के लय भी बिल्कुल स्पष्ट सुनाई पड़ रहा है। इसने गोपुच्छ आदि प्रमुख यतियों का भी सुन्दर सम्पादन किया है इसी प्रकार वाद्य के विषय में तीनों प्रकार के तत्त्वों का जो समूह है वे भी अच्छी तरह से दिखाए गए हैं।

काल के विभाव का वर्णन जैसे 'कुमार सम्भव' में—

अशोक का वृक्ष भी न केवल नीचे से ऊपर तक फूल-पत्तों से लद गया था उसने अत्यन्त बिछुआवाली सुन्दरियों के चरण के प्रहार की बाट तक भी नहीं देखी। यहाँ से प्रारम्भ कर—

भौंरा अपनी प्यारी भौंरी के साथ एक ही फूल की कटोरी में मकरन्द पीने लगा। काला हरिण अपनी उस हरिणी को सींग से खुजलाने लगा था उसके स्पर्श का सुख लेती हुई आँख मूँदे बैठी थी।'

वेश का विभाव जैसे वहीं पर—

इस समय पार्वतीजी के शरीर पर लाल मणि की लज्जित करने वाले अशोक के पत्तों के सोने की चमक को घटाने वाले कर्णिकार के फूलों के और मोतियों की माला के समान उनके सिन्दुवार के वासन्ती फूलों के आभूषण सजे हुए थे।

हे सुन्दरि उस पर्वत में लक्ष्मण द्वारा की गई शुश्रूषा से स्वस्थ हम दोनों के उन दिनों की याद करती हो ? अथवा वहां स्वादु जलवाली गोदावरी की याद करती हो ? तथा गोदावरी के तट पर हम दोनों के रहने की याद करती हो ?

कला का विभाव जैसे— अन्तर्निहित है वचन विन्यास ऐसे हाथों द्वारा अच्छी तरह से अर्थ की सूचना मिल जाती है। भाव विशेष से रस में तन्मयता के साथ लय प्राप्त हो जाती है। मृदु अभिनय छहों प्रकार के अभिनय का उत्पत्ति स्थान है। और प्रत्येक भाव में रागबन्ध विषयों को व्यक्त करते हैं।

अथवा जैसे—जीमूतवाहन कह रहे हैं— 'इसकी वीणा के तन्त्रियों से इसी प्रकार के व्यंजन धातुओं (वीणा वाद्य के स्वर के १ भेदो) का प्राकट्य हो रहा है। द्रुत मध्य और लम्बित में तीनों प्रकार के लय भी बिलकुल स्पष्ट सुनाई पड़ रहे हैं। इसने गोपुच्छ आदि प्रमुख यतियों का भी सुन्दर सम्पादन किया है इसी प्रकार वाद्य के विषय में तीनों प्रकार के तत्त्वों का जो समूह है वे भी अच्छी तरह से दिखाए गए हैं।

काल के विभाव का वर्णन जैसे 'कुमार सम्भव' में—

'अशोक का वृक्ष भी तत्काल नीचे से ऊपर तक फूल-पत्तों से लद गया और उसने मनभावने बिछुओंवाली सुन्दरियों के चरण के प्रहार की बाट तक भी नहीं देखी। यहां से प्रारम्भ कर—

'भौंरा अपनी प्यारी भौंरी के साथ एक ही फूल की कटोरी में मकरन्द पीने लगा। काला हरिण अपनी उस हरिणी को सींग से खुजलाने लगा जो उसके स्पर्श का सुख लेती हुई आँख मूंदे बैठी थी।

वेष का विभाव जैसे यहीं पर—

'उस समय पार्वतीजी के शरीर पर लाल मणि को लज्जित करने वाले अशोक के पत्तों के सोने की चमक को घटाने वाले कर्णिकार के फूलों के और मोतियों की माला के समान उजले सिन्दुवार के वासन्ती फूलों के आभूषण सजे हुए थे।

[प्रश्न]—विप्रयोग का जो वाच्यार्थ है वही विप्रलम्भ का भी है फिर विप्रयोग के स्थान पर विप्रलम्भ ही क्यों नहीं रखते ?

[उत्तर]—विप्रयोग के स्थान पर विप्रलम्भ के रखने से विप्रलम्भ में लक्षणा करके विप्रयोग अर्थ लाना पड़ेगा। ऐसी दशा में लक्षणा के बिना काम नहीं चल सकता क्योंकि सामान्यवाचक शब्दों के विशेष अर्थाभिधायी शब्दों में लक्षणा हुआ करती है। पर यहाँ लक्षणा करना अभीष्ट नहीं है। यदि अभिधा से ही अर्थात् सीधे-सादे ही अर्थ निकल जाए तो लक्षणा अर्थात् घुमा-फिराकर टेढ़े-मेढ़े रास्ते से जाने की क्या आवश्यकता ? इसी बात को ध्यान में रखकर विप्रयोग के स्थान पर विप्रलम्भ को नहीं रखा। अब विप्रलम्भ शब्द के बारे में बताते हैं कि यह केवल तीन ही जगह मुख्य अर्थ में व्यवहृत होता है। इन तीनों स्थानों के अतिरिक्त सर्वत्र लक्षणा करनी पड़ती है। जैसे—

१ आने का संकेत देकर नायक का न आना २ नायक के द्वारा अपने आने की अवधि का अतिक्रमण कर जाना और ३ नायक का अन्य नायिका में आसक्त हो जाना।

केवल इन तीन स्थलों पर विप्रलम्भ शब्द अपने मुख्य अर्थ अर्थात् धोखा देने के अर्थ में व्यवहृत होता है।

तत्रायोगोऽनुरागेऽपि नवयोरेकचित्तयो: ॥५०॥

पारतन्त्र्येण दैवाद्वा विप्रकर्षादसंगम: ।

अयोगशृंगार—जहाँ पर नई अवस्थावाले नायक-नायिकाओं का एकचित्त होते हुए भी परतन्त्रतावश अथवा भाग्यवश या दूर रहने आदि के कारण संयोग न हो सके उसको अयोग कहते हैं॥५१॥

एक का दूसरे के द्वारा स्वीकार कर लेने का नाम योग है और इसके अभाव का नाम अयोग है। [इसमें नायक और नायिका का आपस में संयोग हुआ ही नहीं रहता।]

परतन्त्रता के कारण होनेवाले अयोग का उदाहरण सागरिका का वत्सराज से और मालती का माधव से संयोग न हो सकना है।

प्रति अभिलाषा जागृत होती है। नल के प्रति दमयन्ती का अनुराग बंदीजनों के वर्णन से भी जागृत होता रहा।] ॥६६ ६७॥

अभिलाष का उदाहरण जैसे अभिज्ञान शाकुन्तल में दुष्यन्त शकुन्तला को देख सोच रहे हैं—जब मेरा पवित्र मन भी इस पर रीझ उठा तब निश्चय ही क्षत्रिय के साथ इसका विवाह हो सकता है क्योंकि सन्देह-स्थल में सत् पुरुषों का अन्तःकरण ही उचित और अनुचित का निर्णय देता है।

विस्मययुक्त अभिलाष जैसे—

'पतले शरीरवाली नायिका के बड़े-बड़े स्तनों को देख युवक का सिर काँप रहा है मानो वह दोनों स्तनों के बीच गड़ी हुई दृष्टि को उखाड़ रहा है।

आश्चर्ययुक्त अभिलाष जैसे विद्धशालभञ्जिका में—

कोई नायिका राजमहल के घेरे के ऊपर टहल रही है। उसको उसका नायक अपने मित्र से दिखाकर बता रहा है—

'सुधा-लेपन से सफेद उज्ज्वल के चबूतरे से प्रकट किया जाता हुआ मदन-मकर पके हुए मखनी पत्र के समान और अपनी स्वच्छ किरणों को बिखेरता हुआ यह कौनसा कुमुदहीन चन्द्रमा व उसका बिना आधार के चहारदीवारी के ऊपरी भाग को अलंकृत कर रहा है। मित्र जरा अपनी आँखों को यहाँ फैलाओ तो सही और थोड़ा विचारो तो सही कैसी आश्चर्यजनक घटना है!

तापन (ताप) का उदाहरण जैसे कुमारसम्भव से—

'भगवान् शङ्कर को देख पार्वतीजी के शरीर के रोंगटे छूट गये और वे पसीने-पसीने हो गईं। उनके आगे चलने को उठाए हुए अपने पैरों को उठाने जहाँ-का-तहाँ रोक लिया जैसे मार्ग के बीच में पहाड़ पड़ जाने से न तो नदी आगे बढ़ पाती है और न पीछे ही हट पाती है वैसे ही हिमालय की कन्या भी न तो आगे ही बढ़ पाईं और न पीछे ही हट पाईं वहीं-की-वहीं खड़ी ही रह गईं।"

वैवात् अर्थात् भाग्य आदि के कारण होनेवाले अयोग का उदाहरण पार्वतीजी का भगवान् शङ्कर से (विवाह के पूर्व तपस्याकाल तक) समागम का न हो सकना है।

दशावस्थः स तत्रादावभिलाषोऽथ चिन्तनम् ॥५१॥

स्मृतिर्गुणकथोद्वेगप्रलापोन्मादसंज्वराः ।

जडता मरणं चेति दुरवस्थं यथोत्तरम् ॥५२॥

अयोग की दस अवस्थाएँ होती हैं। पहले दोनों के हृदय में अभिलाष, फिर चिन्तन उसके बाद स्मृति फिर गुणकथन तदुपरान्त उद्वेग फिर प्रलाप, उन्माद संज्वर (ताप का बढ़ जाना) जड़ता और मरण ये क्रमशः पैदा होते हैं। पहले की अपेक्षा दूसरा, दूसरे की अपेक्षा तीसरा इस प्रकार ये क्रमशः उत्तरोत्तर होनेवाली अवस्थाएँ पहले की अपेक्षा उत्तरोत्तर अधिक दुःखदायिनी होती हैं ॥५१-५२॥

अभिलाषः स्पृहा तत्र कान्ते सर्वाङ्गसुन्दरे ।

दृष्टे श्रुते वा तत्रापि विस्मयानन्दसाध्वसाः ॥५३॥

साक्षात्प्रतिकृतिस्वप्नच्छायामायासु दर्शनम् ।

श्रुतिर्व्याजात्सखीगीतमागधादिगुणस्तुतेः ॥५४॥

अभिलाष—सर्वाङ्ग सुन्दर प्रियतम के देखने अथवा उसके गुणों के श्रवण के द्वारा उसको प्राप्त करने की इच्छा को अभिलाष कहते हैं। इसके उत्पन्न होने पर नायिका में विस्मय आनन्द और भीति ये तीन अनुभाव होते हैं। नायिका को निम्नलिखित प्रकारों में से किसी भी प्रकार से नायक को देख लेने से अभिलाषा उत्पन्न होती है। नायक नायिका के द्वारा निम्नलिखित प्रकार से देखा जाता है—१ साक्षात्कार के द्वारा, २ चित्र देखकर, ३ स्वप्न में ४ छाया और ५. माया के द्वारा। इसी प्रकार नायक के गुण का श्रवण भी नायिका को निम्नलिखित प्रकार से होता है— सखी के द्वारा २ बन्दीजन आदि के द्वारा नायक विषयक प्रशंसनीय गुण-वर्णन से। [इससे भी नायिका के हृदय में नायक के

प्रति अभिलाषा जागृत होती है। नल के प्रति दमयन्ती का अनुराग बन्दीजनों के वर्णन से भी जागृत होता रहा।] ॥६१ ६४॥

अभिलाष का उदाहरण जैसे अभिज्ञान शाकुन्तल में दुष्यन्त शकुन्तला को देख सोच रहे हैं—जब मेरा पवित्र मन भी इस पर रीझ उठा तब निश्चय ही क्षत्रिय के साथ इसका विवाह हो सकता है क्योंकि सन्देह-स्थल में सत् पुरुषों का मन्त करण ही उचित और अनुचित का निर्णय देता है।

विस्मययुक्त अभिलाष जैसे—

"पतले शरीरवाली नायिका के बड़े-बड़े स्तनों को देख युवक का सिर काँप रहा है मानो वह दोनों स्तनों के बीच गड़ी हुई दृष्टि को उखाड़ रहा है।

धार्ष्टययुक्त अभिलाष जैसे विद्धशाल भञ्जिका' में—

कोई नायिका राजमहल के मेरे के ऊपर टहल रही है। उसको उसका नायक अपने मित्र से दिखाकर कहता रहा है—

'सुधा-सेवन से उत्तर उपवन के झकोरों से मथन किया जाता हुआ सफेद-सफेद पके हुए सन्तरे फल के समान और अपनी स्वच्छ किरणों को बिखेरता हुआ यह कौनसा मृगरहित निष्कलंक चन्द्रमा बिना आकाश के चहारदीवारी के ऊपरी भाग को अलंकृत कर रहा है! मित्र जरा अपनी आँखों को यहाँ फैंको तो सही और थोड़ा विचारो तो सही कैसी आश्चर्यजनक घटना है!"

साध्वस (भय) का उदाहरण जैसे 'कुमारसम्भव' में—

'भगवान् शकर को देख पार्वतीजी के शरीर में कँपकँपी छूट गई और वे पसीने-पसीने हो गई। इसके अतिरिक्त आगे चलने को उठाए हुए अपने पैरों को उन्होंने जहाँ-का-तहाँ रोक लिया जैसे धारा के बीच में पहाड़ पड़ जाने से न तो नदी आगे बढ़ पाती है, और न पीछे ही हट पाती है वैसे ही हिमालय की कन्या भी न तो आगे ही बढ़ पाई और न पीछे ही हट पाई वहाँ-की-तहाँ खड़ी ही रह गई।

अथवा जैसे—

'पार्वतीजी इतनी लजाती थीं कि शंकरजी के कुछ पूछने पर भी बोलती न थीं और वे यदि उनका आँचल पकड़ लेते थे तो भागने की कोशिश करती थीं। इसी प्रकार शयनगृह में भी वे दूसरी ही तरफ मुँह करके सोती थीं। पर पार्वतीजी द्वारा इस प्रकार का व्यवहार भी शंकरजी के लिए कम आनन्दप्रद नहीं होता था।

सानुभावविभावास्तु चिन्ताद्याः पूर्वदर्शिताः ।

अनुभाव और विभावों के साथ चिन्ता आदि को पहले बताया जा चुका है। [अतः यहाँ उनको पुनः अंकित करने की आवश्यकता नहीं।]

पुनः कीर्तन के बारे में लिखने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं हो रही है क्योंकि यह तो स्पष्ट ही है।

दशावस्थत्वमाचार्यैः प्रायो वृत्त्या निदर्शितम् ॥५५॥

महाकविप्रबन्धेषु दृश्यते तदनन्तता ।

अभाव में प्रायः दस अवस्थाएँ रहती हैं अतएव आचार्यों ने दस ही भेद गिनाए हैं। पर महाकवियों की रचनाओं की छानबीन से इसके अनन्त भेद दीख पड़ते हैं ॥५५॥

दृष्टे श्रुतेऽभिलाषाच्च किं नौत्सुक्यं प्रजायते ॥५६॥

अप्राप्तौ किं न निर्वेदो ग्लानिः किं नातिचिन्तनात् ।

उदाहरणार्थ अभेद से उसका दिग्दर्शन किया जाता है। देखिए— नायक को देख अथवा उसके गुणों के श्रवण-मात्र से यदि नायिका के अन्दर अभिलाषा जागृत होती है तो क्या उसके अन्दर प्रियतम समागम के लिए उत्सुकता नहीं हो सकती? और उत्सुकता और अभिलाषा के होते हुए भी यदि वह उसे नहीं मिला तो क्या उसके अन्दर निर्वेद पैदा नहीं हो सकता? इसी प्रकार यदि वह अत्यधिक चिन्ता करे तो क्या उसके अन्दर ग्लानि का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता है? ॥५६॥

इसी प्रकार की छिप छिपकर समागम करना इत्यादि बातों की

अथवा जैसे—

पार्वतीजी इतनी लजाती थीं कि शंकरजी के कुछ पूछने पर भी बोलती न थीं और वे यदि उनका आँचल पकड़ लेते थे तो भागने की कोशिश करती थीं। इसी प्रकार शयनकाल में भी वे दूसरी ही तरफ मुँह करके सोती थीं। पर पार्वतीजी द्वारा इस प्रकार का व्यवहार भी शंकरजी के लिए कम आनन्दप्रद नहीं होता था।

सानुभावविभावास्तु चिन्ताद्याः पूर्वदर्शिताः।

अनुभाव और विभावों के साथ चिन्ता आदि को पहले बतलाया जा चुका है। [अतः यहाँ उनको पुनः वर्णित करने की आवश्यकता नहीं।]

गुण-कीर्तन के बारे में लिखने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं हो रही है क्योंकि यह तो स्पष्ट ही है।

दशावस्थत्वमाचार्यैः प्रायो वृत्त्या निदर्शितम् ॥९५॥

महाकविप्रबन्धेषु दृश्यते तदनन्तता।

वियोग में प्रायः दस अवस्थाएँ रहती हैं अतएव आचार्यों ने दस ही भेद गिनाए हैं। पर महाकवियों की रचनाओं की छानबीन से इसके अनन्त भेद दीख पड़ते हैं ॥९५॥

दृष्टे श्रुतेऽभिलाषाच्च किं नौत्सुक्यं प्रजायते ॥९६॥

अप्राप्तौ किं न निर्वेदो ग्लानिः किं नातिचिन्तनात्।

उदाहरणार्थ संक्षेप में उनका दिग्दर्शन किया जाता है। देखिए—नायक को देख अथवा उसके गुणों के श्रवण-मात्र से यदि नायिका के अन्दर अभिलाषा जागृत होती है तो क्या उसके अन्दर प्रियतम समागम के लिए उत्सुकता नहीं हो सकती? और उत्सुकता और अभिलाषा के होते हुए भी यदि वह उसे नहीं मिला तो क्या उसके अन्दर निर्वेद पैदा नहीं हो सकता है? इसी प्रकार यदि वह अत्यधिक चिन्ता करे तो क्या उसके भीतर ग्लानि का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता है? ॥९६॥

इसी प्रकार की छिप-छिपकर समागम करना इत्यादि बातों की

तरुण पता नहीं तुझे कौन-सा ऐसा दुष्ट मंत्रणा देनेवाला मिल गया जो ऊपर से तेरा हितैषी मधु के समान मीठे वचन बोलकर तेरे अन्दर मेरे प्रति प्रकोप पैदा करता किया। पर हे मुग्धनयनी ! मेरे कहने से एक क्षण के लिए भी जरा इस विषय पर विचार तो करो कि वास्तव में तेरा हितैषी आखिर कौन है ? क्या वह नाई की लड़की जिसने तेरे कानों में मेरे विषय में सन्देह को भरा है ? अथवा तेरी सखियाँ ? या मेरे मित्र ? अथवा स्वयं मैं ?

स्वप्न में अन्य नायिका का नाम मुख से आ जाने के कारण अनुमानतः ईर्ष्यामानवाली नायिका का उदाहरण—

जैसे—"राधा से आकर सखियों ने कहा कि कृष्णचन्द्र जिस समय वनक्रीड़ा कर रहे थे उस समय उन्होंने कामदेव के बाणों से प्रेरित हो किसी नायिका का आलिंगन किया। इन बातों को सुनकर राधा प्रकुपित हो गई। इसके बाद जब कृष्णचन्द्र घर आए तो किसी प्रकार राधा के कोप को शान्त किया। उसी दिन रात को जब राधा और कृष्ण एक-दूसरे के अंक में भुजा डालकर सोए तो कृष्णचन्द्र को नींद आ गई और नींद में ही वे दिन के समान राधा को मनाने लगे। राधा को इस सिलसिले में उसी सखी का नाम कृष्णचन्द्र के मुख से सुनकर ईर्ष्या हो आई, तो उन्होंने किसी प्रकार कृष्णचन्द्र की बांहों में पड़ी हुई अपनी भुजाएँ शिथिल कर ली। कवि कहता है कि राधा की वे शिथिल भुजाएँ आपको कल्याण प्रदान करें। कृष्णचन्द्र ने स्वप्न में जो बात कहे थे वे ये थे—हे राधा तुम्हें किसी ने झठमूठ आकर यह बतला दिया कि मैंने वनक्रीड़ा करते समय वन में छिपे हुए कामदेव के डर से सहसा किसी सखी का आलिंगन किया है। तुम व्यर्थ में ऐसी बातों पर विश्वास कर दुःखित हो रही हो।"

भोग के चिह्नों को देखकर अनुमान के द्वारा ईर्ष्यामान करनेवाली नायिका का उदाहरण—

जैसे— 'अन्य स्त्री द्वारा किए हुए ताजा नखक्षत को जो तुमने अपने

जैसे—

प्रणय-कलह के कारण कृत्रिम का बहाना करके मानकर "नायक और नायिका दोनों एक साथ सोए हुए हैं। दोनों प्रणय-कलह से कुपित हो सोए तो अवश्य हैं पर उनके मन में एक-दूसरे के प्रति इस प्रकार उथल-पुथल मच रहा है कि यह सचमुच सो तो नहीं गया? और वे दोनों अपने श्वास को रोक रोककर एक-दूसरे के सोने की परीक्षा कर रहे हैं। इस स्थिति को देख उनकी सखियाँ आपस में बातचीत कर रही हैं कि देखो इस होड़ में कौन विजयी होता है।"

स्त्रीणामीर्ष्याकृतो मानः कोपोऽन्यासङ्गिनि प्रिये ।
श्रुते वाऽनुमिते दृष्टे श्रुतिस्तत्र सखीमुखात् ॥५८॥
उत्स्वप्नायितभोगाङ्कगोत्रस्खलनकल्पितः ।
त्रिधाऽनुमानिको दृष्टः साक्षादिन्द्रियगोचरः ॥६ ॥

नायक किसी दूसरी स्त्री में अनुरक्त है, इस बात को सुनने, देखने अथवा अनुमान के द्वारा नायिका के भीतर अनुमित होने से जो ईर्ष्या पैदा होती है उसे ईर्ष्यामान कहते हैं।

सुनना सखियों के द्वारा ही हुआ करता है क्योंकि नायिका का उन (सखियों) पर विश्वास बना रहता है। अनुमान से होनेवाला ईर्ष्यामान भी तीन प्रकार का होता है—१ स्वप्न में कहे गए वचनों के द्वारा। २ नायक के शरीर में अन्य नायिकाकृत भोग-चिह्नों को देखकर तथा ३ मनमाने बातचीत के प्रसंग में अन्य स्त्री का नाम मुख से निकल जाने से ।५९-६ ॥

आँख से प्रत्यक्ष कर लेने ही को देखना कहते हैं।

सखियों के कहने से नायक पर सन्देह कर ईर्ष्यामानवाली नायिका का उदाहरण हमारे (कवि के) ही इस पद्य में देखिए—

नायक नायिका को प्रसन्न करने की चेष्टा करते हुए कहता है कि हे सुन्दर भौंहोंवाली प्यारी! तेरा हृदय तो मक्खन के समान कोमल

से ढक लिया है और उसके द्वारा किए गए दन्तक्षत को भी हाथों से ढक लिया है पर यह तो बताओ कि पद्मिनी के संभोग को व्यक्त करनेवाला जो सुन्दर सुवास तुम्हारे इर्द गिर्द फैल रहा है, भला उसको कैसे रोक सकोगे ?

गोत्रस्खलन से ईर्ष्यामानवाली नायिका का उदाहरण—

जैसे— प्रणयकाल में बातचीत के प्रसंग में अपने नायक के मुख से किसी नायिका के नाम को सुनकर प्रकुपित हुई नायिका की सखी नायक को फटकार रही है—"अरे दुष्ट ! कुटिलता से अनभिज्ञ मेरी भोली-भाली प्रिय सखी से तूने परिहास में किसी अन्य नायिका का गुण-कथन कर दिया फिर क्या था वह भोली भाली उसे कथन को सत्य मानकर रो रही है। नायक के अपराध आदि को देख ईर्ष्यामान करनेवाली नायिका का उदाहरण जैसे मुग्धराज का प्रणय कुपिता।

(इससे पूर्व ही नायिकागत प्रणयमान का उदाहरण देते समय इस पद्य का अर्थ आ चुका है दे॰ पृ॰ २१५)

यथोत्तरं गुरुः षड्भिरुपायैस्तमुपाचरेत् ।
साम्ना भेदेन दानेन नत्युपेक्षारसान्तरैः ॥६१॥
तत्र प्रियवचः साम भेदस्तत्सख्युपार्जनम् ।
दानं व्याजेन भूषादेः पादयोः पतनं नतिः ॥६२॥
सामादौ तु परिक्षीणे स्यादुपेक्षावधीरणम् ।
रभसत्रासहर्षादेः कोपभ्रंशो रसान्तरम् ॥६३॥
कोपचेष्टाश्च नारीणां प्रागेव प्रतिपादिताः ।

ऊपर बताए हुए तीनों कारणों से अर्थात् (१) सुनकर (२) अनुमानकर और (३) देखकर इनसे होनेवाले ईर्ष्यामान उत्तरोत्तर अधिक कष्टकर होते हैं। इनको उपाय से शान्त करना चाहिए। शान्त करने के छ उपाय हैं—१ साम २ भेद ३ दान ४ नति ५ उपेक्षा और ६ रसान्तर।

१ साम—प्रियवचन बोलने का नाम साम है।

२ भेद—नायिका की सखियों को अपनी ओर मिला लेने का नाम भेद है।

३ दान—आभूषण साड़ी आदि देकर प्रसन्न करने की कोशिश करने को दान कहते हैं।

४ नति—पाँवों में पड़ने का नाम नति है।

५. उपेक्षा—साम आदि उपायों के विफल हो जाने पर नायिका की उपेक्षा करने को उपेक्षा कहते हैं।

६ रसान्तर—डराना, चमकाना, हर्ष आदि के द्वारा भी कोप-भंग किया जा सकता है। यह अन्तिम उपाय है जिसे रसान्तर कहते हैं। स्त्रियों की कोपचेष्टा का वर्णन पहले किया जा चुका है अतः उनके बारे में फिर बताने की आवश्यकता नहीं है ॥६१ ६२॥

प्रिय वचन के द्वारा प्रसन्न करने के प्रयत्न को साम कहते हैं, जैसे मेरा ही पद्य—कोई नायक मान की हुई अपनी नायिका से कहता है—"तुम्हारा मुखचन्द्र स्मितरूपी ज्योत्स्ना से सारे विश्व को धवलित कर रहा है। तेरी आँखें चारों तरफ मानो अमृत बरसा रही हैं, तेरा शरीर प्रत्येक दिशा में आकुलाकुल लावण्य को बिखेर रहा है, पर पता नहीं तेरे हृदय में कठोरता ने कहाँ से स्थान कर लिया है?

अथवा जैसे—कोई नायक अपनी प्रेयसी से कह रहा है—हे प्रिय ब्रह्मा ने तेरे नेत्रों को नीलकमल से, मुख को लाल कमल से, तेरे दाँतों को कुन्द के श्वेत पुष्पों से, अधरों को नए-नए लाल पल्लवों से तथा अवशिष्ट अंगों को चम्पक के पुष्पों से बनाया है, पर पता नहीं तेरे चित्त को पत्थर से क्यों बनाया?

नायिका की सखियों को अपनी ओर मिला लेनेवाले भेद नामक उपाय का उदाहरण, जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य—

"नायक अपनी प्रेयसी से कहता है कि आज से तुम्हारे कोप को तो मैं असीम और अपूर्व ही समझ बैठा था क्योंकि इसके दूर करने के

लिए सखियों द्वारा की गई मधुर वाणी का प्रयास भी व्यर्थ हो गया था। पर मुझे अपनी इस सफलता पर आश्चर्य हो रहा है कि तूने देवि मेरे द्वारा आज्ञा भंग किए जाने पर भी अपने चरणों पर नत होते देखकर क्रोधी से मुझे उठा लिया। साथ ही तू अपने क्रोध को छोड़ने में भी प्रयत्नशील दीख रही है।"

आभूषण आदि देकर प्रसन्न किए जानेवाले दान नामक उपाय का उदाहरण जैसे 'माघ' में—कोई नायिका अपने नायक से कहती है—'बार-बार भ्रमरों से उपहसित इस मंजरी को मुझे क्यों दे रहे हो! हे दुष्ट तूने तो आज रात को उसके पास जाकर मुझे बहुत बड़ी मंजरी प्रदान कर ही दी है।

पाँवों में पड़ने को नति कहते हैं जैसे—'नायिका के चरणों पर गिरे हुए नायक के केशपाश उसके नूपुरों में ऐसे लग गए हैं मानो वे उससे कह रहे हैं कि सम्मान प्रदानार्थ अनुरक्त हृदय तेरे पास आया हुआ है।

उपेक्षा नामक उपाय का उदाहरण जैसे—"नायक मनाकर नाराज हो चला गया। उसके जाने के बाद नायिका अपने किये हुए पर पश्चात्ताप कर रही है। सखी से कहती है—अब उसके पास (मनाने के लिए) जाने से क्या लाभ? पर हे सखि अभी न जाना भी ठीक नहीं है क्योंकि समर्थवान् से कठोरता का बरताव भी ठीक नहीं होता सो तुम उसके पास जाकर अनुनय-विनय करके जिस प्रकार से हो सके उस प्रकार से लाओ। नायिका थोड़ी देर रुककर फिर कहती है—अच्छा जाने दो उसको बुलाने की आवश्यकता नहीं है। और जिसने मेरे साथ ऐसा अप्रिय कार्य किया है उसकी प्रार्थना करना उचित नहीं है।'

रसान्तर नामक उपाय का उदाहरण

[शृङ्गारान्तर्गत भयानक के उदाहरण में पहले दिया जा चुका है।]

कार्यतः संभ्रमाच्छापात् प्रवासो भिन्नदेशता ॥६४॥

द्वयोस्तत्राभूमि-प्रवासकारणस्य प्रवासकारिता ।
स च भावी भवन्भूतस्त्रिधाऽऽद्योबुद्धिपूर्वकः ॥६५॥

नायक और नायिका का अलग-अलग देशों में रहने का नाम प्रवास है। यह तीन कारणों से हो सकता है—१ कार्यवशात्, २. संभ्रम से और ३ शाप से।

प्रवास की दशा में नायक और नायिका की निम्नलिखित दशाएँ होती हैं—एक का दूसरे को याद कर-कर रोना-धोना निःश्वास दुबलता और केशों का बढ़ जाना आदि।

प्रवास तीन प्रकार का होता है—१ भविष्यत् अर्थात् आगे आने वाला २ वर्तमान और ३ भूत।

१ इनमें का पहला अर्थात् कार्यवशात् होनेवाला प्रवास समुद्र यात्रा सेवा आदि कार्यों के लिए होता है। यह तीन प्रकार का होता है—१ भविष्यत्, वर्तमान और भूत ॥६४ ६५॥

भविष्यत् प्रवास जैसे—प्रियतमा प्रिय-विरह के विषय में सशंकित मनाती हुई पड़ोसिया के घर पूछती फिरती है कि—'जिसका पति परदेश जानेवाला होता है उसकी स्त्रियाँ कैसे जीती हैं ?

वर्तमान प्रवास का उदाहरण जैसे अमरुशतक' में—

कोई पुरुष सैकड़ो देशो अनेक नदियो पर्वतो और जगलों से अन्तरित किसी दूर प्रदेश मे स्थित अपनी कान्ता से विमुक्त है। वह यद्यपि इस बात को जानता है कि कितने ही प्रयत्नो के बावजूद भी यहाँ से मैं अपनी प्रिया को देख नही सकता फिर भी अपनी प्रिया के स्मरण मे इतना विभोर हो उठता है कि अपने पजे के बल खडा होकर आँखो में आँसू भरकर उसी दिशा मे जिधर उसकी प्रेयसी का स्थान है कुछ सोचता हुआ बहुत देर से देख रहा है।"

भूत प्रवास अर्थात् भूतकालीन प्रवास का उदाहरण जैसे 'मेघदूत' मे—

हे मित्र जब तुम मेरी प्रिया के पास पहुँच जाओगे तो देखोगे कि वह अपने शरीर पर मलिन वस्त्रों को धारण किये हुए अपनी गोद मे

वीणा को लेकर मेरे नामों से सम्बन्धित गाने योग्य बनाए हुए पदों को गाने की चेष्टा करती होगी पर इतने ही में मेरी स्मृति उद्बुद्ध हो जाने के कारण नेत्रों के आँसुओं से भीगी हुई अपनी वीणा को किसी प्रकार पोंछ लेने पर भी अपने रचे हुए स्वरों के उतार-चढ़ाव को बार-बार भूल रही होगी।

द्वितीयः सहसोत्पन्नो दिव्यमानुषविप्लवात् ।

द्वितीय अर्थात् संभ्रम (घबराहट) से होनेवाला प्रवास दिव्य अथवा मनुष्य आदि के द्वारा किए गए विप्लव से सहसा उत्पन्न होता है।

दिव्य के द्वारा होनेवाले विप्लव के भीतर उत्पात, निर्घात वात आदि का प्रयोग कारण होता है। [घोर से घोर आंधी आना घनघोर वृष्टि के बीच बादल की गड़गड़ाहट बिजली की चकाचौंध हाथी अथवा अन्य किसी पशु द्वारा उत्पात आदि बातें दिव्य के द्वारा होनेवाले उत्पात में पाई जाती हैं।]

और मनुष्य के द्वारा होनेवाले संभ्रम के भीतर शत्रु आदि के द्वारा नगर का घिर जाना आदि बातें पाई जाती हैं।

संभ्रम से होनेवाला प्रवास चाहे दिव्य कारणों से हो अथवा अदिव्य कारणों से पर बुद्धि पूर्वक न होने के कारण वह एक ही प्रकार का होता है। दिव्य के द्वारा होनेवाला संभ्रम प्रवास का उदाहरण जैसे 'विक्रमोर्वशी' नाटक में अप्सराओं आदि के द्वारा राजा का उर्वशी से वियुक्त होना। अदिव्य (मानुषजन्य) उत्पात से होनेवाले संभ्रम प्रवास का उदाहरण है—

मालती माधव प्रकरण में कपालकुण्डला द्वारा मालती के अपहरण हो जाने से दोनों का प्रवासित होना।

स्वरूपान्यत्वकरणाच्छापश्च सन्निधावपि ।।६६।।

शाप प्रवास—शापवश अन्य शरीर धारण कर लेने पर यदि नायक (प्रेमी) या नायिका (प्रेमिका) पास में भी हों फिर भी वह प्रवास ही है ।।६६।।

जैसे—कादम्बरी में वैशम्पायन का।

यूने स्वैकत्र सप्राप्य प्रसपेत्प्रोक एव म ।
व्यामयत्वात्त्र शृङ्गार: प्रत्यापन्ने तु नेतर: ॥६७॥

नायक और नायिका में यदि कोई एक मर गया और उसके वियोग में दूसरा होता हो ऐसी हालत में वह शोक है अर्थात् वहाँ पर करुणरस है। आलंबनहीन होने के कारण वह शृंगार नहीं है। और यदि उसके जीने की आशा अर्थात् संयोग की आशा दैवयोग से उत्पन्न हो जाए तब तो वह करुणरस कदापि नहीं हो सकता बल्कि वह विप्रलंभ शृंगार हो जाएगा ॥६७॥

करुणरस का उदाहरण 'रघुवंश' में इन्दुमती के मर जाने पर महाराज की कारुणिक अवस्था का होता है। संयोग की आशा उत्पन्न हो जाने से करुण का विप्रलम्भ शृंगार कहे जाने या हो जाने का उदाहरण है। कादम्बरी में पहले करुण फिर आकाशवाणी द्वारा 'वह जी जाएगा' इसके सबब से प्रवास शृंगार हो जाता है।

अब नायिका के प्रति नियम बताते हैं—

प्रत्यायातागयोरस्या प्रवास प्रोषितप्रिया ।
कलहान्तरितेर्ष्याया विप्रलब्धा च खण्डिता ॥६८॥

प्रवास के रहने अयोग हो तो उसी नायिका को उत्का या उत्कण्ठित कहते हैं। प्रिय के विदुर रहने पर अर्थात् वियोग के प्रवासकाल में उसे प्रोषितप्रिया कहते हैं। नायक के प्रति ईर्ष्या रखने से वह कलहान्तरिता विप्रलब्धा और खण्डिता कही जाती है ॥६८॥

अनुकूलौ निषेवेते यत्रान्योन्य विलासिनौ ।
दर्शनस्पर्शनादीनि स संभोगो मुदान्वित: ॥६९॥

सम्भोग शृंगार—उस दशाविशेष का नाम सम्भोग है जिसमें पुरुष और युवती दोनों एक-दूसरे को लेकर दर्शन स्पर्शन (चुम्बन आदि) आदि क्रियाओं के द्वारा प्रसन्नतापूर्वक केलिरोप स्वरचना के

साथ आनन्दसागर में गोते लगाते रहते हैं ॥६८॥

जैसे 'उत्तररामचरित' में—

राम सीता से कह रहे हैं— 'अनुराग के सम्बन्ध से गाल सटाकर कुछ-कुछ धीरे-धीरे क्रम के बिना कहते हुए और एक-एक बाहु को गाढ़ आलिंगन में फँसाते हुए हम दोनों को बीते हुए प्रहरों का भी पता न चलकर रातें यों ही बीत जाया करती थीं।

अथवा जैसे 'उत्तररामचरित' का यह पद्य—

रामचन्द्र सीता से कहते हैं— प्रिये यह क्या है ?

तुम्हारे प्रत्येक स्पर्श में इन्द्रिय-समूह को मूढ़ करनेवाला विकार मेरे ज्ञान को कभी तिरोहित करता है और कभी प्रकाशित करता है। यह (विकार) सुख है या दुःख, मूर्च्छा है या निद्रा, विष का प्रसरण है या मादक द्रव्य से उत्पन्न मद है ? यह निश्चय नहीं कहा जा सकता है।"

अथवा जैसे मेरा (ग्रन्थकार का) ही पद्य—

"कोई नायक अपनी प्रेयसी से कह रहा है कि हे प्रिये लावण्यरूपी अमृत की वर्षा करनेवाला काले बादल के समान कृष्ण वर्ण का चौतरफा (चारों तरफ से) अत्यधिक ऊँचा उठा हुआ तेरा स्तनमण्डल काले-काले अगरु की मालावाली तथा चारों दिशाओं में जमीन तक लटके हुए मेघमण्डल के समान सुशोभित हो रहा है। [वर्षा ऋतु में केतकी का पुष्प वर्षा की वृष्टि से विकसित होता है और इधर नायक के शरीर के अवयव स्तनमण्डल-रूपी मेघमण्डल से लावण्य-रूपी जल वृष्टि से विकसित हो रहे हैं।] हे प्रिये तेरी नासिका सुन्दर केतकी पुष्प की तरह है सुन्दर भौंहों की बनावट ही उसके पत्ते हैं, माथे पर लगा हुआ सुन्दर कस्तूरी का तिलक ही उसके पुष्प हैं और हेलायुक्त तेरा कटाक्ष ही पुष्प रस के पान करनेवाले भ्रमर हैं।

चेष्टास्तत्र प्रवर्तन्ते लीलाद्या दश योषिताम् ।
दाक्षिण्यमार्दवप्रेम्णामनुरूपाः प्रियं प्रति ॥७०॥

युवतियों के अन्दर शोभा आदि दस चेष्टाएँ होती हैं। ये दसों चेष्टाएँ *प्रिय के प्रति दाक्षिण्य मृदुता और प्रेम के अनुरूप होती हैं ॥७० ॥*

इनको द्वितीय प्रकाश में नायिकाओं के बारे में बताते समय कह आए हैं।

रमयेच्चाटुकृत्कान्त: कलाक्रीडादिभिश्च ताम् ।
न ग्राम्यमाचरेत्किञ्चिन्नर्मभ्रंशकरं न च ॥७१॥

नायक नायिका के साथ चाटुकारितायुक्त मधुर वचनों से और कला क्रीडा आदि के साथ रमण करे अथवा कराए। पर इन क्रियाओं के साथ ग्राम्य (निन्दनीय) कार्य नहीं होना चाहिए। और न नर्म का भ्रंश करनेवाले ही कार्य होने चाहिए। रंगमंच पर ग्राम्य संभोग का दिखाना तो निषिद्ध ही है फिर यहाँ ग्राम्य के निषेध करने का तात्पर्य यह है कि अभ्यकाव्य में भी इसका वर्णन नहीं हो सकता है ॥७१॥

राजा वत्सराज वासवदत्ता से कह रहे हैं कि प्रिये कामदेव की पूजा की समाप्ति के बाद तेरे हाथ का स्पर्श किया हुआ अशोक ऐसा लग रहा है मानो इसके अन्दर अपने और किसलयों से भी मृदुतर किसलय निकल आए हैं। यहाँ पर वासवदत्ता के हाथों की अँगुलियों पर उत्प्रेक्षा की गई है।

नायक नायिका कैशिकी वृत्ति नाटक और नाटिका आदि के लक्षणों को जानकर और कवि-परम्परा से अवगत होकर तथा स्वमति औचित्य की सम्भावना के अनुकूल कल्पना करते हुए नई-नई सूझों को दिखलाता हुआ प्रतिभाशाली कवि शृङ्गार रस की रचना करे।

वीरः प्रतापविनयाध्यवसायसत्त्व
मोहाविषादनयविस्मयविक्रमाद्यैः ।
उत्साहभूः स च दयारणदानयोगा
त्त्रेधा किलात्र मतिगर्वधृतिप्रहर्षाः ॥७२॥

वीररस—प्रताप विनय अध्यवसाय सत्त्व (पराक्रम) अविषाद

बाण अनुरागसागर में गोते लगाते रहते हैं ॥६६॥

जैसे 'उत्तररामचरित' में—

राम सीता से कह रहे हैं— 'अनुराग के सम्बन्ध से गाल सटाकर कुछ-कुछ धीरे-धीरे क्रम के बिना कहते हुए और एक-एक बाहु को गाढ़ आलिंगन में लगाते हुए हम दोनों को बीते हुए प्रहरों का भी पता न लगकर रातें भी ही बीत जाया करती थीं।

अथवा जैसे 'उत्तररामचरित' का यह पद्य—

रामचन्द्र सीता से कहते हैं—"प्रिये यह क्या है ?

'तुम्हारे प्रत्येक स्पर्श में इन्द्रिय-समूह को मूढ़ करनेवाला विकार मेरे ज्ञान को कभी तिरोहित करता है और कभी प्रकाशित करता है। यह (विकार) सुख है या दुःख मूर्च्छा है या निद्रा विष का प्रसरण है या मादक द्रव्य से उत्पन्न मद है ? यह निश्चय नहीं कहा जा सकता है।"

अथवा जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य—

'कोई नायक अपनी प्रेयसी से कह रहा है कि हे प्रिये पावसरूपी मधुप की वर्षा करनेवाला काले बादल के समान कृष्ण वर्ण का चौतरफा (चारों तरफ से) अत्यधिक ऊँचा उठा हुआ तेरा स्तनमण्डल काले-काले भ्रमर की आभावाली तथा चारों दिशाओं में जमीन तक लटके हुए मेघमण्डल के समान सुशोभित हो रहा है। [वर्षा ऋतु में केतकी का पुष्प वर्षा की वृष्टि से विकसित होता है और इधर नायक के शरीर के अवयव स्तनमण्डल-रूपी मेघमण्डल से लावण्य-रूपी जल वृष्टि से विकसित हो रहे हैं।] हे प्रिये तेरी नासिका सुन्दर केतकी पुष्प की तरह है सुन्दर भौंहों की बनावट ही उसके पत्ते हैं, माथे पर लगा हुआ सुन्दर कस्तूरी का तिलक ही उसके पुष्प हैं और हेलायुक्त तेरा नयन ही पुष्प रस के पान करनेवाले भ्रमर हैं।'

चेष्टास्तत्र प्रवर्तन्ते लीलाद्या दश योषिताम् ।
दाक्षिण्यमार्दवप्रेम्णामनुरूपाः प्रियं प्रति ॥७ ॥

युद्धवीर में प्रस्वेद (पसीना) होना मुँह का लाल हो जाना नेत्रों में क्रोध आदि अनुभावों का होना आदि बातें नहीं होतीं। यदि ये सब बातें रहें तो फिर यह रौद्र कहलाएगा।

बीभत्स रस—इसका स्थायी भाव जुगुप्सा है। यह तीन प्रकार का होता है—१ उद्वेग से २ क्षोभ से और ३ शुद्ध।

बीभत्सः कृमिपूतिगन्धिवमथुप्रायैर्जुगुप्सैकभू-
रुद्वेगी रुधिरान्त्रकीकसवसामांसादिभिः क्षोभणः ।
वैराग्याज्जघनस्तनादिषु घृणाशुद्धोऽनुभावैर्वृतो
नासावक्त्रविकूणनादिभिरिहावेगार्तिशङ्कादयः ॥७३॥

१ हृदय को बिलकुल ही अच्छे न लगनेवाले कीड़े सड़न गंध आदि विभावों से पैदा हुआ जुगुप्सा नामक स्थायीभाव को पुष्ट करनेवाले अनुभावों से युक्त उद्वेगी नामक बीभत्स होता है।

२ रुधिर अंतड़ी हड्डी और मज्जा मांस आदि के देखने अर्थात् इन विभावों से होनेवाले क्षोभ से उत्पन्न होनेवाला बीभत्स होता है।

३ वैराग्य के द्वारा स्त्रियों की सुन्दर जघनों तथा स्तन आदि अंगों में भयानक विकृति को देखकर होनेवाली जुगुप्सा को शुद्ध बीभत्स कहते हैं।

बीभत्स रस में नाक का सिकोड़ना और मुख मोड़ना आदि अनुभाव और आवेग व्याधि तथा शंका ये संचारीभाव होते हैं ॥७३॥

उद्वेग से होनेवाला बीभत्सरस का उदाहरण 'मालतीमाधव' का यह पद्य—

उतिन उतिन चाम फेरि ताहि खाउत है
सौंधि को उठाइ भर्यो ऐसे वे प्रगट है ।
धर्यो माम कन्धो जाँघ पीठ की नितम्बनु की
सुगम पचाइ गैव रवि सों निसर है ।

और इसके संचारीभाव—अमर्ष मद स्मृति चपलता असूया उग्रता आवेग आदि हैं।

ऊपर कहे हुए विभाव अनुभाव और सचारीभावो से पुष्ट होता हुआ क्रोध नामक स्थायीभाव रौद्ररस की सज्ञा प्राप्त करता है।

मात्सर्य नामक विभाववाला रौद्ररस जैसे—

प्रकुपित परशुराम विश्वामित्र से कहते है— तुम इस समय तपस्या के बल से ब्रह्मर्षि हो पर जन्मना क्षत्रिय हो। अत यदि तुम्हें अपनी तपस्या का घमण्ड है तो मेरे अन्दर तपस्या का वह बल है कि मैं अपने तपोबल से तुम्हारी तपस्या को नष्ट कर सकता हूँ और यदि तुम्हे क्षत्रिय होने का गर्व है तो फिर अस्त्रास्त्रो के साथ आ जाओ उसका भी मुँहतोड उत्तर देनेवाला फरसा मेरे पास ही विद्यमान है।

वैरिकृत रौद्र का उदाहरण जैसे—

भीमसेन मगलपाठ करनेवाला को डाँटते हुए कह रहे हैं—जिन धृतराष्ट्र के पुत्रो ने लाक्षानिर्मित महल विषमिश्रित आहार तथा द्यूत और सभाग्रह प्रवेश आदि के द्वारा हम लोगो के प्राण और धन के अपहरण की चेष्टा की द्रौपदी के केशपाशो को खीचा वे मेरे रहते स्वस्थ हो ऐसा कदापि नही हो सकता।

'महावीरचरित' और 'वेणीसहार' मे वर्णित परशुराम भीमसेन और दुर्योधन के व्यवहार रौद्ररस के उदाहरण है।

विकृताकृतिवाग्वेषैरात्मनोऽथ परस्य वा।

हास स्यात्परिपोषोऽस्य हास्यस्त्रिप्रकृति स्मृत ॥७५॥

हास्यरस—अपने या अन्य के विकृत आकृति वाणी और वेष के द्वारा पैदा हुए हास के परिपुष्ट होने का नाम हास्यरस है। इस रस के दो आश्रय होते हैं—१ आत्मस्थ और २ परस्थ ।।७५।।

आत्मस्थ का उदाहरण है—रावण द्वारा कथित यह पद्य—

मेरे शरीर मे लगी विभूति ही चन्दन की धूलि का लेप है, मस्तक

प्रतीत हो सुन्दर हार है इधर-उधर बिखरी हुई, विस्तृत लताएँ ही विरो-जपन हैं। गले में पड़ी हुई बगुलों की माला ही गलबहियाँ आभूषण है। बादल ही चित्रामुक है इस प्रकार से मैंने सीता को भुलाने वाला (योग्य) कामीजनोचित सुन्दर वेश-विन्यास किया है।

परस्थ हास्य जैसे—किसी राजा ने किसी भिक्षुक से पूछा—'क्या तुम मांस भी खाते हो?' उधर से उत्तर मिला—'मद्य के बिना मांस का सेवन कैसा?' राजाजी ने फिर पूछा—'क्या तुम्हें मद्य भी प्रिय है?' उधर से उत्तर आया—'वेश्याओं के साथ ही मुझे तो मद्यपान में मजा आता है।' राजा ने पुनः प्रश्न किया—'वेश्याएँ तो रुपये की लालची होती हैं तेरे पास धन कहाँ से आता है?' उत्तर मिला—'जुआ खेलकर तथा चोरी से।' राजा ने फिर पूछा—'अरे तुम चोरी भी करते हो और जुआ भी खेलते हो?' उत्तर मिला—'जो अपने को नष्ट कर चुका है उसकी इसके सिवाय और क्या गति हो सकती है।'

स्मितमिह विकासिनयनं किञ्चिल्लक्ष्यद्विजं तु हसितं स्यात्।
मधुरस्वरं विहसितं सशिरःकम्पमिदमुपहसितम् ॥७६॥
अपहसितं सास्राक्षं विक्षिप्ताङ्गं भवत्यतिहसितम्।
द्वे द्वे हसिते चैषां ज्येष्ठे मध्येऽधमे क्रमशः ॥७७॥

हास्य के आत्मस्थ और परस्थ भेदों को बता चुके। ये दोनों भी—उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष और अधम पुरुष की प्रकृति-भेद से प्रत्येक तीन-तीन प्रकार के होते हैं। इस प्रकार हास्य छः प्रकार का होता है। वे हैं—स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित, अतिहसित।

जिस हास्य में केवल नेत्र विकसित हों उसे स्मित कहते हैं।

जिस हास्य में कुछ कुछ दांत भी दिखाई दें उसे हसित कहते हैं।

जिस हास्य में हंसते समय मधुर स्वर भी होता है उसे विहसित कहते हैं।

जिस हास्य में सिर भी हिलने लगता है उसे उपहसित कहते हैं।

स्वापापस्मारदैन्याधिमरणालस्यसम्भ्रमाः ।

विषादजडतोन्मादचिन्ताद्या व्यभिचारिणः ॥८२॥

करुण रस—यह शोक नामक स्थायीभाव से पैदा होता है। इष्ट का नाश, अनिष्ट की प्राप्ति आदि इसके विभाव और निःश्वास, उच्छ्वास, रुदन, स्तम्भ, प्रलाप आदि अनुभाव तथा निद्रा, अपस्मार, दैन्य, व्याधि, मरण, आलस्य, आवेग, विषाद, जड़ता, उन्माद और चिन्ता आदि संचारी भाव होते हैं ॥ ८२॥

इष्टनाश से उत्पन्न करुण जैसे 'कुमारसम्भव' में—

'हे प्राणनाथ, क्या तुम जीते हो' यह कहती हुई वह ज्यों ही खड़ी हुई तो देखती क्या है कि शंकर के क्रोध से जला हुआ पुरुष के आकार का राख का एक ढेर सामने पृथ्वी पर पड़ा हुआ है।"

इत्यादि रति का प्रलाप]

अनिष्ट प्राप्ति का उदाहरण 'रत्नावली नाटिका' में सागरिका का कैद किया जाना है।

प्रीतिभक्त्यादयो भावा मृगयाक्षादयो रसाः ।

हर्षोत्साहादिषु स्पष्टमन्तर्भावान्न कीर्तिताः ॥८३॥

प्रीति और भक्ति आदि भावों को और मृगया, द्यूत से होनेवाले रसों का हर्ष और उत्साह के भीतर अन्तर्भाव हो जाता है। स्पष्ट होने के कारण इसकी व्याख्या नहीं की गई ॥८३॥

षट्त्रिंशद्भूषणादीनि सामादीन्येकविंशतिः ।

लक्ष्यसन्ध्यन्तराख्यानि सालंकारेषु तेषु च ॥८४॥

३६ विभूषण आदि का, उपमा आदि अलंकारों में और २१ साम आदि का हर्ष, उत्साह आदि के भीतर अन्तर्भाव हो जाता है। यह बात स्पष्ट है, अतः इसको अलग से बताने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई ॥८४॥

रम्यं जुगुप्सितमुदारमथापि नीच-

मुग्रं प्रसादि गहनं विकृतं च वस्तु ।

धनिक की संस्कृत वृत्ति

इह सदाचारं प्रमाणयद्भिरविघ्नेन प्रकरणस्य समाप्त्यर्थमिष्टयोः प्रकृताभिमतदेवतयोर्नमस्कारः क्रियते श्लोकद्वयेन ।

नमस्तस्मै भरताय च ॥१ २॥

यस्य कण्ठः पुष्करायते मृदङ्गवदाचरति महाभोगेन घनध्वानो भिदिवत्पन्नभि नीलकण्ठस्य शिवस्य ताण्डवे उद्धते नृत्ते तस्मै गणेशाय नमः । अत्र वाक्यालंकारोपाक्षिप्यमाणोपमाव्यपदेशरूपकारः । नीलकण्ठस्य मयूरस्य ताण्डवे यथा मेघध्वनिः पुष्करायत इति प्रतीतिः ।

दशरूपानुकारेणेति । एकत्र मत्स्यकूर्मादिप्रतिमानामनुरूपेणान्यत्राऽनुकृतिरूपनाटकादिना यस्य भावका ध्यानादौ रसिकाश्च भावयन्ति दृश्यन्ते तस्मै विष्णवेऽभिमताय प्रकृताय भरताय च नमः ।

श्रोतृ प्रवृत्तिनिमित्तं प्रदर्श्यते ।

कस्यचिदेव येन वैदग्ध्यम् ॥३॥

न कश्चिद् विषयं प्रकरणादिवर्ण्यं कस्यचिदेव कस्यचिदेव धने सरस्वती योजयति येन प्रकरणादिना विषयेणाऽन्यो जनो विदग्धो भवति ।

स्वप्रवृत्तिविषयं दर्शयति ।

उद्धृत्योद्धृत्य संक्षिपामि ॥४॥

य शास्त्रमेव वेदेभ्य सारमादाय ब्रह्मा भगवान् नाट्यवेदमभिनयं भरताचार्य करणाङ्गहारोज्ज्वलकरोत् हरस्ताण्डवमुद्धतं लास्यं सुकुमारं नृत्तं पार्वती दत्तवती तस्य सामस्त्येन लक्षणं कर्तुं कः शक्तः तदेव दशरूपस्य संक्षेपं क्रियत इत्यर्थः ।

नाटकं   वीथ्यङ्केहामृगा इति ॥८॥

ननु ।

डोम्बी श्रीगदितं भाणो भाणीप्रस्थानरासकाः ।
काव्यं च सप्त नृत्यस्य भेदाः स्युस्तेऽपि भाणवत् ॥

इति रूपकान्तराणामपि भाणादवधारणानुपपत्तिरित्याशङ्क्याह ।

अन्यद् भावाश्रयं नृत्यं

इति । रसाश्रयात् नाट्यात् भावाश्रयं नृत्यमन्यदेव । तत्र भावाश्रयमिति विषयभेदात् नृत्यमिति नृतेर्गात्रविक्षेपार्थत्वेनाङ्गिकबाहुल्यात् तत्कारिषु च नर्तकव्यपदेशात् लोकेऽपि चात्र प्रेक्षणीयकमिति व्यवहारात् नाटकादेरन्यत् नृत्यम् । तद्भेदत्वात् श्रीगदितादेरवधारणोपपत्तिः । नाटकादि च रसविषयम् । रसस्य च पदार्थीभूतविभावादिसंसर्गात्मकवाक्यार्थहेतुकत्वात् वाक्यार्थाभिनयात्मकत्वं रसाश्रयमित्यनेन दर्शितम् । नाट्यमिति च नट अवस्पन्दने इति नटेः किञ्चिच्चलनार्थत्वात् सात्त्विकबाहुल्यम् । अत एव तत्कारिषु नटव्यपदेशः । यथा च गात्रविक्षेपार्थत्वे समानेऽप्यनुकारात्मकत्वेन नृत्तादन्यत् नृत्यं तथा वाक्यार्थाभिनयात्मकात् नाट्यात् पदार्थाभिनयात्मकमन्यदेव नृत्यमिति ।

प्रसङ्गात् नृत्तं व्युत्पादयति ।

नृत्तं ताललयाश्रयम् ।

इति । तालश्चच्चत्पुटादिः लयो द्रुतादिः तन्मात्रापेक्षोऽङ्गविक्षेपोऽभिनयशून्यो नृत्तमिति ।

अनन्तरोक्तं द्वितयं व्याचष्टे ।

आद्यं   तथा परम् ॥९॥

नृत्यं पदार्थाभिनयात्मकं मार्ग इति प्रसिद्धम् । नृत्तं च देशीति ।

द्विविधस्याऽपि द्वैविध्यं दर्शयति ।

मधुरोद्धतभेदेन   नाटकाद्युपकारकम् ॥१०॥

सुकुमारं द्वयमपि लास्यमुद्धतं द्वितयमपि ताण्डवमिति । प्रासङ्गिकत्वं तयोर्दर्शयन् । तच्च नाटकाद्युपकारकमिति । नृत्यस्य क्वचित्

स्थानकम्। तच्च तुल्येतिवृत्ततया तुल्यविशेषणतया च द्विप्रकारमन्योक्ति समासोक्तिभेदात्। यथा रत्नावल्याम्।

यातोऽस्मि पद्मनयने समयो ममैष
सुप्ता मयैव भवती प्रतिबोधनीया।
प्रत्यायनामयमितीव सरोरुहिण्याः
सूर्योऽस्तमस्तकनिविष्टकरः करोति ॥

यथा च तुल्यविशेषणतया।

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणाद्
आयासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन् कोपविपाटलद्युतिमुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ॥

एवमाधिकारिकेतिवृत्तप्रासङ्गिकमेवाद्विविधस्यापि नैविध्यमाह।

प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्वभेदात् त्रेधापि तत्त्रिधा ॥१५॥

इति निगदव्याख्यातम्।

तस्येतिवृत्तस्य किं फलमित्याह।

कार्यं त्रिवर्गस्तत् शुद्धमेकानेकानुबन्धि च।

धर्मार्थकामाः फलम्। तच्च शुद्धमेकैकमेकानुबन्धं द्विस्त्र्यनुबन्धं वा।

तत्साधनं व्युत्पादयति।

स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा।

स्तोकोद्दिष्टः कार्यसाधकः पुरस्तादनेकप्रकारं विस्तारी हेतुविशेषो बीजवद् बीजम्। यथा रत्नावल्यां वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुरनुकूलदैवो यौगन्धरायणव्यापारो विष्कम्भके न्यस्तः। यौगन्धरायणः। कः सन्देहः। द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि इत्यादिना।

प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनो वृद्धिहेतौ।

इत्यन्तेन। यथा च वेणीसंहारे द्रौपदीकेशसंयमनहेतुर्भीमक्रोधोपचित युधिष्ठिरोत्साहो बीजमिति। तच्च महाकार्यावान्तरकार्यहेतुभेदादनेकप्रकारमिति।

इत्यादिना प्रतिपादितः ।

प्राप्त्याशामाह ।

उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसम्भवः ।

उपायस्यापायशङ्कायाश्च भावादनिर्धारितैकान्ता फलप्राप्तिः प्राप्त्याशा । यथा रत्नावल्यां तृतीयेऽङ्के वेषपरिवर्ताभिसरणादौ समागमोपाये सति वासवदत्तालक्षणापायशङ्कया [1]एवं यदि अकालवातालीव न आगमिष्यति वासवदत्ता इत्यादिना दर्शितत्वादनिर्धारितैकान्ता समागमप्राप्तिरुक्ता ।

नियताप्तिमाह ।

अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिः सुनिश्चिता ।

अपायाभावादवधारितैकान्ता फलप्राप्तिर्नियताप्तिरिति । यथा रत्नावल्यां विदूषकः । [2]सागरिका दुष्करं जीविष्यतीत्युपलभ्य किं न उपायं चिन्तयसि । इत्यनन्तरं राजा । वयस्य देवीप्रसादनं मुक्त्वा नान्यमत्रोपायं पश्यामीत्यनन्तरोक्तार्थविमुक्ताङ्केन देवीलक्षणापायस्य प्रसादनेन निवारणात् नियता फलप्राप्तिः सूचिता ।

फलयोगमाह ।

समग्रफलसम्पत्तिः फलयोगो यथोदितः ॥२ ॥

यथा रत्नावल्यां रत्नावलीलाभचक्रवर्तित्वावाप्तिरिति ।

सन्धिलक्षणमाह ।

अर्थप्रकृतयः   पञ्च सन्धयः ॥२१॥

अर्थप्रकृतीनां पञ्चानां यथासङ्ख्येनावस्थाभिः पञ्चभिर्योगात् यथासङ्ख्येनैव जायमाना मुखाद्याः पञ्च सन्धयो जायन्ते ।

सन्धिसामान्यलक्षणमाह ।

अन्तरैकार्थसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति ।

एकेन प्रयोजनेनान्वितानां कथांशानामवान्तरैकप्रयोजनसम्बन्ध-

---

१ एवं यदि अकालवातालीव नागमिष्यति वासवदत्ता ।

२ सागरिका दुष्करं जीविष्यतीत्युपलभ्य किं न उपायं चिन्तयसि ।

सन्धि ।

के पुनस्ते सन्धय ।

मुखप्रतिमुखे गर्भ सावमर्शोपसंहृति ॥२२॥

यथोद्देश लक्षणमाह ।

मुखं बीजारम्भसमन्वयात् ॥२३॥

बीजानामुत्पत्तिरनेकप्रयोजनस्य रसस्य च हेतुर्मुखसन्धिरिति व्याख्यानम् । तेनार्थत्रिवर्गफले प्रधानभावे रसोत्पत्तिहेतोरेव बीजत्वमिति । अस्य च बीजारम्भार्थयुक्तानि द्वादशाङ्गानि भवन्ति । तान्याह ।

उपक्षेप लक्षणम् ॥२४॥

एतेषां स्वसञ्ज्ञाव्याख्यातानामपि मुखार्थं लक्षणं क्रियते ।

बीजन्यास उपक्षेप

यथा रत्नावल्यां नेपथ्ये ।

द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात् ।

आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूत ॥

इत्यादिना यौगन्धरायणो वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुभूतमनुकूलदैव स्वव्यापार बीजत्वेनोपक्षिप्तवानित्युपक्षेप ।

परिकरमाह ।

तद्बाहुल्य परिक्रिया ।

यथा तत्रैव । अन्यथा क्व सिद्धादेशप्रत्ययप्रार्थिताया सिंहलेश्वरदुहितु समुद्रे प्रवहणभङ्गमग्नोत्थिताया फलकासादनमित्यादिना सर्वथा स्पृशन्ति स्वामिनमभ्युदया इत्यन्तेन बीजोत्पत्तस्य बहुकरणात् परिकर ।

परिन्यासमाह ।

तन्निष्पत्ति परिन्यास

यथा तत्रैव ।

प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनो वृद्धिहेतौ

दैवे चेत्थं दत्तहस्तावलम्बे ।

सिद्धेर्भ्रान्तिर्नास्ति सत्यं तथापि
स्वेच्छाकारी भीत एवास्मि भर्तुः ॥

इत्यनेन यौगन्धरायणः स्वव्यापारवैषम्यनिष्पत्तिमुक्तवानिति परिन्यासः ।

विलोभनमाह ।

गुणाख्यानाद् विलोभनम् ॥२५॥

यथा रत्नावल्याम् ।

अस्तापास्तसमस्तभासि नभसः पारं प्रयाते रवा
वास्थानीं समये समं नृपजनः सायन्तने सम्पतन् ।
सम्प्रत्येष सरोरुहद्युतिमुषः पादांस्तवासेवितुं
प्रीत्युत्कर्षकृतो दृशामुदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते ॥

इति वैतालिकमुखेन चन्द्रतुल्यवत्सराजगुणवर्णनया सागरिकायाः समागमहेत्वनुरागबीजानुगुण्येनैव विलोभनाद् विलोभनमिति । यथा च वेणीसंहारे ।

मन्थायस्तार्णवाम्भः प्लुतकुहरचलन्मन्दरध्वानधीरः
कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटान्योन्यसंघट्टचण्डः ।
कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः
केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽयम् ॥

इत्यादिना यशोदुन्दुभिरित्यन्तेन द्रौपद्या विलोभनाद् विलोभनमिति ।

अथ युक्तिः ।

सम्प्रधारणमर्थानां युक्तिः

यथा रत्नावल्याम् मयापि चैनां देवीहस्ते सबहुमानं निक्षिपता युक्तमेवानुष्ठितं कथितं च मया यथा बाभ्रव्यः कञ्चुकी सिंहलेश्वरामात्येन वसुभूतिना सह कथं कथमपि समुद्रादुत्तीर्य कोशलोच्छित्तये गतस्य रुमण्वतो घटित इत्यनेन सागरिकाया अन्तःपुरस्थाया वत्सराजस्य सुखेन दर्शनादिप्रयोजनावधारणाद् बाभ्रव्यसिंहलेश्वरामात्ययोः स्वनायकसमागमहेतुप्रयोजनत्वेनावधारणाद् युक्तिरिति ।

तुमं मम पदाहीणं परिग्गहं सारिअं मोत्तूण इहागदा ता तहिं ज्जेव गच्छ इत्युपक्रमे सागरिका स्वगतं सारिआ दाव मए सुसङ्गदाए हत्थे समप्पिदा पेक्खिदुं च मे कुदूहलं ता अलक्खिदा पेक्खिस्सं इत्यनेन वासवदत्ताया रत्नावलीवत्सराजयोर्दर्शनप्रतीकारात् सारिकायाः सुसङ्गतार्पणेन प्रच्छादितप्रेक्षणेन च वत्सराजसमागमहेतोर्बीजस्योपादानात् समाधानमिति। यथा च वेणीसंहारे। भीम। भवतु पाञ्चालराजतनये श्रूयताम् अचिरेणैव कालेन।

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात-
सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि-
रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि! भीम ॥

अत्रानेन वेणीसंहारहेतोः क्रोधबीजस्य पुनरुपादानात् समाधानम्।

अथ विधानम्।

विधानं सुखदुःखकृत् ॥२६॥

यथा मालतीमाधवे प्रथमेऽङ्के। माधव।
यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमाननं तद्
आवृत्तवृन्तशतपत्रनिभं वहन्त्या।
दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या
गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्ष ॥
यद्विस्मयस्तिमितमस्तमितान्यभावम्
आनन्दमन्दममृतप्लवनादिवाभूत्।
तत्सन्निधौ तदधुना हृदयं मदीयम्
अङ्गारचुम्बितमिव व्यथमानमास्ते ॥

इत्यनेन मालतीमाधवयोः समागमहेतोर्बीजानुगुण्येनैव माधवस्य

तव मनोत्सवे सारिके मुखस्नेहागता तस्मात्तत्रैव गच्छ, इत्युपक्रमे सागरिका स्वगतं सारिका तावन्मया सुसङ्गताया हस्ते समर्पिता प्रेक्षितुं च मे कुतूहलं तद् अलक्षिता प्रेक्षिष्ये।

यद् द्यूताग्निसमुद्भूत नृपसुताकेशाम्बराकर्षणैः
क्रोधज्योतिरिदं महत् कुरुवने यौधिष्ठिरं जृम्भते ॥

भीमः । सहर्षम् । जृम्भतां सम्प्रत्यप्रतिहतमार्यस्य क्रोधज्योतिः कुरुकुले ।

अथ करणम् ।

करणं प्रकृतारम्भो

यथा रत्नावल्याम् । [1]णमो दे कुसुमाउह ता अमोहदंसणो मे भविस्सदि त्ति दिट्ठ व पेक्खिदव्व ता जाव ण कोवि ण पेक्खइ ता गमिस्सं इत्यनेनानन्तरप्रकृतार्थाभिमतदर्शनारम्भणात् करणम् । यथा च वेणीसंहारे । तत् पाञ्चालि गच्छामो वयमिदानीं कुरुकुलक्षयायेति । सहदेव । आर्य गच्छाम इदानीं गुरुजनानुज्ञाता विक्रमानुरूपमाचरितुमित्यनेनानन्तराङ्कप्रस्तूयमानसङ्ग्रामारम्भणात् करणमिति । सर्वत्र बहूद्देश्यप्रतिनिर्देश्य वैषम्यं विभागस्याप्रविवक्षितत्वादिति ।

अथ भेदः ।

भेदः प्रोत्साहना मता ॥ २७ ॥

इति । यथा वेणीसंहारे । [2]णाह मा क्खु जण्णसेणीपरिभवुद्दीविदकोवा अणवेक्खिदसरीरा परिक्कमिस्सध जदो अप्पमत्तसञ्चरणीआइ सुणीअन्ति रिउबलाइं । भीमः । अयि सुक्षत्रिये ।

अन्योन्यास्फालभिन्नद्विपरुधिरवसामांसमस्तिष्कपङ्के
मग्नानां स्यन्दनानामुपरि कृतपदन्यासविक्रान्तपत्तौ ।
स्फीतासृक्पानगोष्ठीरसदशिवशिवातूर्यनृत्यत्कबन्धे
सङ्ग्रामैकार्णवान्तःपयसि विचरितुं पण्डिताः पाण्डुपुत्राः ॥

इत्यनेन विरमणाया द्रौपद्या भीमोत्साहदीपनागुणत्वेनैव प्रोत्साहनाद् भेद इति ।

---

१ नमस्ते कुसुमायुध अमोघदर्शनो मे भविष्यसीति दृष्टं यत् प्रेक्षितव्यं तत् यावन्न कोऽपि मां न पश्यति तत् गमिष्यामीति ।

२ नाथ मा खलु याज्ञसेनीपरिभवोद्दीपितकोपा अनवेक्षितशरीराः परिक्रमिष्यथ यतोऽप्रमत्तसञ्चरणीयानि श्रूयन्ते रिपुबलानि ।

एतानि च द्वादश मुखाङ्गानि बीजारम्भप्रकाशकानि साक्षात् पारम्पर्येण वा विधेयानि । एतेषामुपक्षेपपरिकरपरिन्यासयुक्त्युद्भेदसमाधानानामवश्यम्भावितेति ।

अथ साङ्गं प्रतिमुखसन्धिमाह ।

लक्ष्यालक्ष्य…त्रयोदश ॥ २८ ॥

तस्य बीजस्य किञ्चिल्लक्ष्यः किञ्चिदलक्ष्य इवोद्भेदः प्रकाशनं तत् प्रतिमुखम् । यथा रत्नावल्यां द्वितीयेऽङ्के वत्सराजसागरिकासमागमहेतोरनुरागबीजस्य प्रथमाङ्कोपक्षिप्तस्य सुसङ्गताविदूषकाभ्यां ज्ञायमानतया किञ्चिल्लक्ष्यस्य वासवदत्तया च चित्रफलकवृत्तान्तेन किञ्चिदुन्नीयमानस्य दृश्यादृश्यतयोद्भेदः प्रतिमुखसन्धिरिति । वेणीसंहारेऽपि द्वितीयेऽङ्के भीष्मादिवधेन किञ्चिल्लक्ष्यस्य कर्णाद्यवधात् चालक्ष्यस्य क्रोधबीजस्योद्भेदः ।

> सहभृत्यगणं सबान्धवं सहमित्रं ससुतं सहानुजम् ।
> स्वबलेन निहन्ति संयुगे न चिरात् पाण्डुसुतः सुयोधनम् ॥

इत्यादिभिः ।

> दुःशासनस्य हृदयक्षतजाम्बुपाने
> दुर्योधनस्य च यथा गदयोरुभङ्गे ।
> तेजस्विनां समरमूर्धनि पाण्डवानां
> ज्ञेया जयद्रथवधेऽपि तथा प्रतिज्ञा ॥

इत्येवमादिभिर्बीजोद्भेदः प्रतिमुखसन्धिरिति । अत्र च पूर्वाङ्कोपक्षिप्तबिन्दुरूपबीजप्रयत्नार्थानुगतानि त्रयोदशाङ्गानि भवन्ति ।

तान्याह ।

विलासः पर्युपासनम् ॥२९॥

वज्रं पुष्पमुपन्यासो वर्णसंहार इत्यपि ।

यथोद्देशं लक्षणमाह ।

रत्यर्थेहा शमः ॥३०॥

परिहासवचो निरोधनम् ॥३१॥

पुन पश्यन्त्या ममापि एव चित्तकम्प वेवसन्धीए सीसवेयणासमुप्पणा इत्यनेन वासवदत्तया वत्सराजस्य सागरिकानुरागोद्भेदनात् प्रत्यक्षनिष्ठुरा भिधान बलमिति ।

अथ वर्णसंहार । चातुर्वर्ण्यम् । यथा वीरचरिते तृतीयेऽङ्के ।

परिषदियमृषीणामेष वृद्धो युधाजित्
सह नृपतिरमात्यैर्लोमपादश्च वृद्ध ।
अयमविरतयज्ञो ब्रह्मवादी पुराण
प्रभुरपि जनकानामद्रुहो याचकस्ते ॥

इत्यनेन ऋषिक्षत्रियामात्यादीना सङ्गताना वर्णाना वचसा रामविषया वशिन परशुरामदुर्दमस्माद्द्रोहमाभ्याहारेणोद्भेदनाद् वर्णसंहार इति ।

एतानि च त्रयोदश प्रतिमुखाङ्गानि मुखसन्ध्युपक्षिप्त बिन्दुलक्षणा वान्तरबीजमहाबीजप्रयत्नानुगतानि विधेयानि । एतेषा च मध्ये परिसर्पप्रशमवज्रोपन्यासपुष्पाणा प्राधान्यम् । इतरेषा यथासम्भव प्रयोग इति ।

अथ गर्भसन्धिमाह ।

गर्भस्तु प्राप्तिसम्भव ॥३६॥

प्रतिमुखसन्धौ लक्ष्यालक्ष्यरूपतया स्तोकोद्भिन्नस्य बीजस्य सविशेषोद्भेदपूर्वक सान्तरायो लाभ पुनर्विच्छेद पुन प्राप्ति पुनर्विच्छेद पुनश्च तस्यैवान्वेषण वारवार सोऽनिर्धारितैकान्तफलप्राप्त्याशात्मको गर्भसन्धिरिति । तत्र चौत्सर्गिकत्वेन प्राप्त्याशा पताकाया अनियम दर्शयति । पताका स्यान् नवेत्यनेन । प्राप्तिसम्भवस्तु स्यादेवेति दर्शयति । स्यादिति । यथा रत्नावल्या तृतीयेऽङ्के वत्सराजस्य वासवदत्तालक्ष्यया यौन सङ्केतपरिग्रहसागरिकाभिसरणोपायेन च विदूषकवचसा सागरिका प्राप्त्याशा प्रथम पुनर्वासवदत्तयाभिच्छेद पुन प्राप्ति पुनर्विच्छेद पुनरप्यभिसारणोपायान्वेषण नास्ति देवीप्रसादन मुक्त्वान्य उपाय इत्यनेन दर्शितमिति । स च द्वादशाङ्गो भवति ।

तान्युद्दिशति ।

प्रसभविमदां दृष्टिं वक्त्रे ददाति न शङ्किता
घटयति घनं कण्ठाश्लेषे रसान्न पयोधरौ ।
वदति बहुशो गच्छामीति प्रयत्नधृताप्यहो
रमयतितरां सङ्केतस्था तथापि हि कामिनी ॥

कथं विरमति वसन्तकः । किन्तु खलु विदितः स्यादयं वृत्तान्तो देव्या इत्यनेन रत्नावलीसमागमप्राप्त्याशानुगुण्येनैव देवीसङ्कायाश्च वितर्काद् तर्कमिति ।

अथोदाहरणम् ।

सोत्कर्षं स्यादुदाहृतिः ।

इति । यथा रत्नावल्याम् । विदूषकः । सहर्षम् । ही ही[1] भो कोसम्बीरज्जलाहेणावि ण तारिसो वअस्सस्स परितोसो आसि जारिसो मम सआसादो पिअवअणं सुणिअ भविस्सदि त्ति वअणेनेत्यनेन रत्नावली प्राप्तिवार्तायाः कौशाम्बीराज्यलाभादतिरिच्यत इत्युत्कर्षाभिधानादुदाहृति-रिति ।

अथ क्रमः ।

क्रमः सञ्चिन्त्यमानाप्तिः

इति । यथा रत्नावल्याम् । राजा । उपनतप्रियासमागमोत्सवस्यापि मे किमिदमत्यर्थमुत्ताम्यति चेतः । अथवा ।

तीव्रः स्मरसन्तापो न तथाऽऽदौ बाधते यथाऽऽसन्ने ।
तपति प्रावृषि सुतरामभ्यर्णजलागमो दिवसः ॥

इति विदूषकः । आकर्ण्य । भोदि सागरिए एसो पिअवअस्सो तुमं एव्व उद्दिसिअ उक्कण्ठाणिब्भरं मन्तेदि ता णिवेदेमि से तुह आअमणं[2] इत्यनेन वत्सराजस्य सागरिकासमागममभिलषत एव प्राग्लब्धाभिमतप्राप्तिरिति क्रमः ।

अथ सङ्ग्रहमनुमानम् ।

---

१ भो कौशाम्बीराज्यलाभेनापि न तादृशो वयस्यस्य परितोष आसी-द्यादृशो मम सकाशात् प्रियवचनं श्रुत्वा भविष्यतीति तर्कयामि ।

२ भवति सागरिके एष प्रियवयस्यः त्वामेवोद्दिश्य उत्कण्ठानिर्भरं मन्त्रयति तन्निवेदयामि तस्मै तवागमनम् ।

यथा रत्नावल्याम् । विदूषकः । पश्यन् । ¹का उण एसा । ससम्भ्रमम् । कधं देवी वासवदत्ता भत्तारं वावादेदि । राजा । ससम्भ्रममुपसर्पन् । क्वासौ क्वासावित्यनेन वासवदत्ताबुद्धिगृहीतायाः सागरिकाया मरणशङ्कया सम्भ्रम इति । यथा च वेणीसंहारे । नेपथ्ये कलकलः । अश्वत्थामा । ससम्भ्रमम् । मातुल ! मातुल ! कष्टम् एष भ्रातुः प्रतिज्ञाभङ्गभीरुः किरीटी सम शरवर्षैर्दुर्योधनराधेयावभिद्रवति । सर्वथा पीतं शोणितं दुःशासनस्य भीमे नेत्याशङ्का । तथा प्रविश्य सम्भ्रान्तः सप्रहारः सूतः । आयता आयता कुमार इति चास । इत्येताभ्यां भावशङ्काभ्यां दुःशासनद्रोणवधसूचकाभ्यां पाण्डव विजयप्राप्त्याशान्वितः सम्भ्रम इति ।

यथाऽऽक्षेपः ।

गर्भबीजसमुद्भेदादाक्षेपः परिकीर्तितः ॥३८॥

यथा रत्नावल्याम् । राजा । वयस्य देवीप्रसादनं मुक्त्वा नान्यमत्रोपायं पश्यामि । पुनः कमान्तरे सर्वथा देवीप्रसादनं प्रति निष्प्रत्याशीभूताः स्मः । पुनस्तत् किमिह स्थितेन देवीमेव गत्वा प्रसादयामीत्यनेन देवीप्रसादायत्ता सागरिकासमागमसिद्धिरिति गर्भबीजोद्भेदादाक्षेपः । यथा च वेणीसंहारे । सुन्दरक । ²अहवा किमेत्थ देव्वं उवालहामि तस्स क्खु एव णिव्भच्छिदविदुरवअणवीअस्स परिभूदपिदामहहिदोवदेसङ्कुरस्स सउणिप्पोत्साहणारूढमूलस्स मूढविसमाहिणो पञ्चालीकेसग्गहकुसुमस्स फलं परिणमेदि । इत्यनेन बीजमेव फलोन्मुखतयाऽऽक्षिप्तमत इत्याक्षेपः ।

एतानि द्वादश गर्भाङ्गानि प्राप्त्याशाप्रदर्शकत्वेनोपनिबन्धनीयान्येषां च मध्ये अभूताहरणमार्गतोटकाधिबलाक्षेपाणां प्राधान्यम् । इतरेषां यथासम्भवं प्रयोग इति साङ्गो गर्भसन्धिरुक्तः ।

यथाऽवमर्शः ।

---

१ का पुनरेषा । कथं देवी वासवदत्तात्मानं व्यापादयति ।

२ अथवा किमत्र दैवमुपालभामि तस्य खल्वेव निर्भर्त्सितविदुरवचनबीजस्य परिभूतपितामहहितोपदेशाङ्कुरस्य शकुनिप्रोत्साहनारूढमूलस्य मूढविषशाखिनो पाञ्चालीकेशग्रहकुसुमस्य फलं परिणमति ।

राजा । दुरात्मन् भरतकुलापसद पाण्डवपशो नाहं भवानिव विकत्थनाप्रगल्भः । किन्तु ।

द्रक्ष्यन्ति न चिरात् सुप्तं बान्धवास्त्वां रणाङ्गणे ।
मद्गदाभिन्नवक्षोऽस्थिवेणिकाभङ्गभीषणम् ॥

इत्यादिना भरतभीमयोर्भीमदुर्योधनयोः स्वशक्त्युक्तिर्विरोधनमिति ।

अथ प्ररोचना ।

सिद्धामन्त्रणतो भाविदर्शिका स्यात् प्ररोचना ।

यथा वेणीसंहारे । पाञ्चालकः । अहं च देवेन चक्रपाणिनैवमुक्तस्य कृतं सन्देहेन ।

पूर्यन्तां सलिलेन रत्नकलशा राज्याभिषेकाय ते
कृष्णात्यन्तचिरोज्झिते च कबरीबन्धे करोतु क्षणम् ।
रामे शातकुठारभासुरकरे क्षत्रद्रुमोच्छेदिनि
क्रोधान्धे च वृकोदरे परिपतत्याजौ कुतः संशयः ॥

इत्यादिना भवभाविकर्ममाभासयति । यतो युधिष्ठिर इत्यनेन द्रौपदीकेश-संयमनयुधिष्ठिरराज्याभिषेकयोर्भाविनोरपि सिद्धत्वेन दर्शिता प्ररोचनेति ।

अथ विचलनम् ।

विकत्थना विचलनम्

यथा वेणीसंहारे । भीमः । तात अम्ब ।

सकलरिपुजयाशा यत्र बद्धा सुतैस्ते
तृणमिव परिभूतो यस्य गर्वेण लोकः ।
रणशिरसि निहन्ता तस्य राधासुतस्य
प्रणमति पितरौ वां मध्यमः पाण्डवोऽयम् ॥

अपि च । मम

चूर्णिताशेषकौरव्यः क्षीबो दुःशासनासृजा ।
भङ्क्ता सुयोधनस्योर्वोर्भीमोऽयं शिरसाञ्चति ॥

इत्यनेन भीमेन स्वगुणानुगणनस्वगुणाविष्करणाद् विचलनमिति । यथा च रत्नावल्याम् यौगन्धरायणः ।

रत्नावलीवसुभूतिबाभ्रव्यादीनामर्थानां मुखसन्ध्यादिषु प्रकीर्णानां कार्यार्थे एकार्थानयनम्। वसुभूतिः। सागरिकां निर्वर्ण्य आत्मगतम्। बाभ्रव्य सुसदृशीयं राजपुत्र्या इत्यादिना कार्यानयनमिति निर्वहणसन्धिः।

अथ तदङ्गानि।

सन्धिर्विबोधो   चतुर्दश ॥४१॥

यथोद्देशं लक्षणमाह।

सन्धिर्बीजोपगमनम्

इति। यथा रत्नावल्याम्। वसुभूतिः। बाभ्रव्य सुसदृशीयं राजपुत्र्या। बाभ्रव्यः। ममाप्येवमेव प्रतिभातीत्यनेन नायिकाबीजोपगमात् सन्धिरिति। यथा च वेणीसंहारे। भीमः भवति यज्ञवेदिसम्भवे स्मरति भवती यत् मया उक्तम्।

> चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात-
> सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
> स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि-
> रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः ॥

इत्यनेन मुखोपक्षिप्तस्य पुनरुपगमनात् सन्धिरिति।

अथ विबोधः।

विबोधः कार्यमार्गणम्।

यथा रत्नावल्याम्। वसुभूतिः। निरूप्य। देव कुत इयं कन्यका। राजा। देवी जानाति। वासवदत्ता। अज्जउत्त एसा सायराओ पाविअत्ति भणिअ अमच्चजोगन्धरायणेण मम हत्थे णिहिदा। अदो ज्जेव सागरिएत्ति सद्दावीअदि। राजा। आत्मगतम्। यौगन्धरायणेन न्यस्ता। कथमसौ ममानिवेद्य करिष्यतीत्यनेन रत्नावलीलक्षणकार्यान्वेषणाद् विबोधः। यथा च वेणीसंहारे भीमः। मुञ्चतु मुञ्चतु मामार्यः क्षणमेकम्। युधिष्ठिरः। किमपरमवशिष्टम्। भीमः। सुमहदवशिष्टम्। संयमयामि तावदनेन

१ आर्यपुत्र एषा सागरात् प्राप्तेति भणित्वाऽमात्ययौगन्धरायणेन मम हस्ते निहिता अत एव सागरिकेति शब्द्यते।

दुःशासनशोणितोक्षितेन पाणिना पाञ्चाल्या दुःशासनाकृष्टं केशहस्तम्। युधिष्ठिरः गच्छतु भवान्। अनुभवतु तपस्विनी वेणीसंहारमित्यनेन कचसंयमनकार्यस्यान्वयगमाद् विरोध इति।

अथ ग्रथनम्।

ग्रथनं तदुपक्षेपो

यथा रत्नावल्याम्। यौगन्धरायणः। देव श्रूयतां यद् देवस्याविदितं मयैतद् कृतमित्यनेन वत्सराजस्य रत्नावलीप्रापणकार्योपक्षेपाद् ग्रथनम्। यथा च वेणीसंहारे। भीमः। पाञ्चालि न खलु मयि जीवति संहर्तव्या दुःशासनविलुलिता वेणिरात्मपाणिना। तिष्ठतु तिष्ठतु। स्वयमेवाहं संहरामीत्यनेन द्रौपदीकचसंयमनकार्यस्योपक्षेपाद् ग्रथनम्।

अथ निर्णयः।

अनुभूताख्या तु निर्णयः ॥५१॥

यथा रत्नावल्याम्। यौगन्धरायणः। (कृताञ्जलिः) देव श्रूयताम्। इयं सिंहलेश्वरदुहिता सिद्धादेशेनोपदिष्टा योऽस्याः पाणिं ग्रहीष्यति स सार्वभौमो राजा भविष्यति। तत्प्रत्ययादस्माभिः स्वाम्यर्थे बहुशः प्रार्थ्यमानापि सिंहलेश्वरेण देव्या वासवदत्तायाश्चित्तखेदं परिहरता यदा न दत्ता तदा लावाणके देवी दग्धेति प्रसिद्धिमुत्पाद्य तदन्तिकं बाभ्रव्यः प्रहित इत्यनेन यौगन्धरायणः स्वानुभूतमर्थं ख्यापितवानिति निर्णयः। यथा च वेणीसंहारे। भीमः। देव देव अजातशत्रो क्वाद्यापि दुर्योधनहतकः। मया हि तस्य दुरात्मनः।

भूमौ क्षिप्त्वा शरीरं निहितमिदमसृक्चन्दनाभं निजाङ्गे
लक्ष्मीरार्ये निषिक्ता चतुरुदधिपयःसीमया सार्धमुर्व्या।
भृत्या मित्राणि योधाः कुरुकुलमखिलं दग्धमेतद्रणाग्नौ
नामैकं यद् ब्रवीषि क्षितिप तदधुना धार्तराष्ट्रस्य शेषम् ॥

इत्यनेन स्वानुभूतार्थकथनात् निर्णय इति।

अथ परिभाषणम्।

परिभाषा मिथो जल्पः।

समयो दुःखनिर्गमः ॥४७॥

इति । यथा रत्नावल्याम् । वासवदत्ता रत्नावलीमालिङ्ग्य । [1]समस्सस समस्सस बाहिणिए' इत्यनेन भगिन्योरन्योन्यसमागमेन दुःखनिर्गमात् समयः । यथा च वेणीसंहारे । भगवन् कुतस्तस्य विजयादन्यद् यस्य भगवान् पुराणपुरुषः स्वयमेव नारायणो मङ्गलान्याशास्ते ।

कृतगुरुमहदादिक्षोभसम्भूतमूर्ति

गुणिनमुदयनाशस्थानहेतुं प्रजानाम् ।

अजममरमचिन्त्यं चिन्तयित्वापि न त्वा

भवति जगति दुःखी किं पुनर्देव दृष्ट्वा ॥

इत्यनेन युधिष्ठिरदुःखापगमं दर्शयति ।

अथ धृतिः ।

धृतिर्लब्धार्थशमनम्

इति । यथा रत्नावल्याम् । राजा । को देव्याः प्रसादं न बहु मन्यते । वासवदत्ता । [2]अज्जउत्त दूरे से मादुउलं ता तधा करेसु जधा बन्धुअणं ण सुमरेदि' इत्यन्योन्यवचसा लब्धाया रत्नावल्या राज्ञः सुखिसंपत्ये उपशमनाद् धृतिरिति । यथा च वेणीसंहारे । कृष्णः । एते खलु भगवन्तो व्यासवाल्मीकीप्रभृतयोऽभिषेकमारब्धवन्तस्तिष्ठन्तीत्यनेन प्राप्तराज्यस्याभिषेकमङ्गलैः स्थिरीकरणं धृतिः ।

अथ भाषणम् ।

मानाद्याप्तिश्च भाषणम् ।

इति । यथा रत्नावल्याम् । राजा । अतः परमपि प्रियमस्ति ।

यातो विक्रमबाहुरात्मसमतां प्राप्तेयमुर्वीतले

सारं सागरिका ससागरमहीप्राप्त्येकहेतुः प्रिया ।

---

१ समाश्वसिहि समाश्वसिहि भगिनिके इति ।

२ आर्यपुत्र दूरे अस्या मातृकुलं तत्तथा कुरुष्व यथा बन्धुजनं न स्मरति ।

देवी प्रीतिमुपागता च भगिनीलाभाज्जिताः कोशलाः
किं नास्ति त्वयि सत्यमात्यवृषभे यस्मै करोमि स्पृहाम् ॥
इत्यनेन कामार्थसमाप्तिलाभाद् भाषणमिति ।

अथ पूर्वभावोपगूहने ।

कार्यदृष्ट्य   अद्भुतम् ।

इति । कार्यदर्शनं पूर्वभावः । यथा रत्नावल्याम् । यौगन्धरायणः । एवं विज्ञाय भगिन्याः सम्प्रति करणीये देवी प्रमाणम् । वासवदत्ता । [1]फुडं ज्जेव किं ण भणसि पडिवादेहि से रअणमालं ति इत्यनेन वत्सराजस्य रत्नावली दीयतामिति कार्यस्य यौगन्धरायणाभिप्रायानुप्रविष्टस्य वासवदत्तया दर्शनात् पूर्वभाव इति । अद्भुतप्राप्तिरुपगूहनम् । यथा वेणीसंहारे । नेपथ्ये । महासमरानलदग्धशेषाय स्वस्ति भवते राजन्यलोकाय ।

क्रोधान्धैर्यस्य मोक्षात् क्षतनरपतिभिः पाण्डुपुत्रैः कृतानि
प्रत्याशं मुक्तकेशान्यनुदिनमधुना पार्थिवान्तःपुराणि ।
कृष्णायाः केशपाशः कुपितयमसखो धूमकेतुः कुरूणां
दिष्ट्या बद्धः प्रजानां विरमतु निधनं स्वस्ति राजन्यकेभ्यः ॥

युधिष्ठिरः । देवि एष ते मूर्धजानां संहारोऽभिनन्दितो नभस्तलचारिणा सिद्धजनेनेत्यनेनाद्भुतार्थप्राप्तिरुपगूहनमिति । कार्यार्थशमनात् कृतिरपि भवति ।

अथ काव्यसंहारः ।

वराप्तिः काव्यसंहारः

इति । यथा । किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि इत्यनेन काव्यार्थसंहरणात् काव्यसंहार इति ।

अथ प्रशस्तिः ।

प्रशस्तिः शुभशंसनम् ॥५४॥

इति । यथा वेणीसंहारे । प्रीततरश्चेद् भवान् तदिदमेवमस्तु ।

---

1 स्फुटमेव किं न भणसि प्रतिपादयास्यै रत्नमालामिति ।

अकृपणमति कामं जीव्याज्जनः पुरुषायुषं
भवतु भगवन् भक्तिर्द्वैतं विना पुरुषोत्तमे ।
दलितभुवनो विद्वद्बन्धुर्गुणेषु विशेषवित्
सततसुकृती भूयाद् भूपः प्रसाधितमण्डलः ॥

इति कुसुमशेखरात् प्रशस्तिः ।

इत्येतानि चतुःषष्टिर्मुखाद्यङ्गानि ।

एवं चतुःषष्ट्यङ्गसमन्विताः पञ्च सन्धयः प्रतिपादिताः ।

षट्प्रकारं चाङ्गानां प्रयोजनमित्याह ।

उक्ताङ्गानां   प्रयोजनम् ।

इति । कानि पुनस्तानि षट्प्रयोजनानि ।

इष्टस्या   नुपक्षयः ॥५९॥

इति । विवक्षितार्थनिबन्धनं गोप्यार्थगोपनं प्रकाश्यार्थप्रकाशनमभिनेयराग वृद्धिश्चमत्कारित्वं च काव्यस्येतिवृत्तस्य विस्तर इत्यङ्गैः षट्प्रयोजनानि सम्पाद्यन्त इति ।

पुनर्वस्तुविभागमाह ।

द्वेधा   परम् ॥६० ॥

इति । कीदृक् सूच्यं कीदृक् दृश्यश्रव्यमित्याह ।

नीरसो   निरन्तरः ॥६१॥

इति सूच्यस्य प्रतिपादनप्रकारमाह ।

अर्थोप   प्रपञ्चकैः ॥६२॥

इति । तत्र विष्कम्भः ।

वृत्तवर्ति   प्रयोजितः ।

इति । अतीतानां भाविनां च कथावयवानां ज्ञापको मध्यमेन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां प्रयोजितो विष्कम्भक इति ।

स द्विविधः शुद्धः सङ्कीर्णश्चेत्याह ।

एका   नीचमध्यमैः ॥६३॥

इति । एकेन द्वाभ्यां वा मध्यमपात्राभ्यां शुद्धो भवति । मध्यमाधम

अथाऽङ्कावतार ।

अङ्का   प्रदर्शयेत् ॥५६॥

यत्र प्रविष्टपात्रेण सूचितमेव पूर्वाङ्काविच्छिन्नार्थतयैवाऽङ्कान्तरमापतति प्रवेशकविष्कम्भकादिशून्यं सोऽङ्कावतारः । यथा मालविकाग्निमित्रे प्रथमाङ्कान्ते । विदूषकः । '[1]तेण हि दुवे वि देवीए पेक्खागेहं गदुअ सङ्गीदोवअरणं करिअ तत्तभवदो दूदं विसज्जेध । अथवा मुदङ्गसद्दो ज्जेव णं उत्थावइस्सदीत्युपक्रमे मृदङ्गशब्दश्रवणादनन्तरं सर्वाण्येव पात्राणि प्रथमाङ्कप्रक्रान्तपात्रसङ्क्रान्तिदर्शनं द्वितीयाङ्कादावारभन्त इति । प्रथमाङ्कार्थाविच्छेदेनैव द्वितीयाङ्कस्यावतरणादङ्कावतार इति ।

पुनस्त्रिधा वस्तुविभागमाह ।

नाट्य   त्रिधेष्यते ।

केन प्रकारेणेत्याह ।

सर्वेषां   श्राव्यमश्राव्यमेव च ॥५७॥

तत्र ।

सर्वश्राव्यं   स्वगतं मतम् ।

इति । सर्वश्राव्यं यद् वस्तु तत् प्रकाशमित्युच्यते । यत् तु सर्वस्याश्राव्यं तत् स्वगतमिति शब्दाभिधेयम् ।

नियतश्राव्यमाह ।

द्विधाऽन्यत्   ऽपवारितम् ॥५८॥

इति । अन्यत् तु नियतश्राव्यं द्विप्रकारं जनान्तिकापवारितभेदेन ।

तत्र जनान्तिकमाह ।

त्रिपताककरेणा   तज्जनान्तिकम् ॥

इति । यस्य न श्राव्यं तस्यान्तरा ऊर्ध्वं सर्वाङ्गुलं वक्रानामिकं त्रिपताककलक्षणं करं कृत्वाऽन्येन सह यत् मन्त्र्यते तज्जनान्तिकमिति ।

---

१ तेन हि द्वावपि देव्याः प्रेक्षागृहं गत्वा सङ्गीतकोपकरणं कृत्वा तत्रभवतो दूतं विसर्जयत । अथवा मृदङ्गशब्द एवैनमुत्थापयिष्यति ।

द्वितीय प्रकाश

रूपकाणामन्योन्यं भेदसिद्धये वस्तुभेदं प्रतिपाद्येदानीं नायकभेदः प्रतिपाद्यते ।

नेता   युवा ॥१॥

बुद्ध्युत्साहस्मृ   धार्मिकः ।

नेता नायको विनयादिगुणसम्पन्नो भवतीति ।

तत्र विनीतः । यथा वीरचरिते ।

यद् ब्रह्मवादिभिरुपासितवन्द्यपादे
विद्यातपोव्रतनिधौ तपतां वरिष्ठे ।
दैवात् कृतस्त्वयि मया विनयापचार
स्तत्र प्रसीद भगवन्नयमञ्जलिस्ते ॥

मधुरः प्रियदर्शनः । यथा तत्रैव ।

राम राम नयनाभिरामता
माशयस्य सदृशीं समुद्वहन् ।
अप्रतर्क्यगुणरामणीयकः
सर्वथैव हृदयङ्गमोऽसि मे ॥

त्यागी सर्वस्वदायकः । यथा ।

त्वचं कर्णः शिबिर्मांसं जीवं जीमूतवाहनः ।
ददौ दधीचिरस्थीनि नास्त्यदेयं महात्मनाम् ॥

दक्षः क्षिप्रकारी । यथा वीरचरिते ।

स्फूर्जद्वज्रसहस्रनिर्मितमिव प्रादुर्भवत्यग्रतो
रामस्य त्रिपुरान्तकृद् दिविषदां तेजोभिरिद्धं धनुः ।
शुण्डारः कलभेन यद्वदचले वत्सेन दोर्दण्डक

स्थिरो वाङ्मनःक्रियाभिरचञ्चलः । यथा वीरचरिते ।

> प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात् ।
> न त्वेवं दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम् ॥

यथा वा भर्तृहरिशतके ।

> प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
> प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ।
> विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
> प्रारब्धमुत्तमगुणास्त्वमिवोद्वहन्ति ॥

गुणाः प्रसिद्धाः । बुद्धिर्ज्ञानम् । गृहीतविशेषकरी तु प्रज्ञा । यथा मालविकाग्निमित्रे ।

> यद् यत् प्रयोगविषये भाविकमुपदिश्यते मया तस्यै ।
> तत् तद् विशेषकरणात् प्रत्युपदिशतीव मे बाला ॥

स्पष्टमन्यत् ।

नेतृविशेषानाह ।

> भेदैश्चतुर्धा ललितशान्तोदात्तोद्धतैरयम् ॥२॥

यथोद्देशं लक्षणमाह ।

> निश्चिन्तो   सुखी मृदुः ।

सचिवादिविहितयोगक्षेमत्वात् चिन्तारहितः । अत एव गीतादिकलाविष्टो भोगप्रवणश्च शृङ्गारप्रधानत्वाच्च सुकुमारसत्त्वाचारो मृदुरिति ललितः । यथा रत्नावल्याम् ।

> राज्यं निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्तः समस्तो भरः
> सम्यक्पालनलालिताः प्रशमिताशेषोपसर्गाः प्रजाः ।
> प्रद्योतस्य सुता वसन्तसमयस्त्वं चेति नाम्ना धृतिं
> कामः काममुपैत्वयं मम पुनर्मन्ये महानुत्सवः ।

अथ शान्तः ।

> सामान्यगुण   द्विजादिकः ॥३॥

विनयादिनेतृसामान्यगुणयोगी धीरशान्तो द्विजादिक इति विप्रवणिक्

मपि भावादीनां प्रकरणभेदेनाभासत्वम्। विवक्षितं चैतत्। तेन नैरपेक्ष्या-दिगुणसम्बन्धेऽपि विप्रादीनां शान्तत्वेन न ललितत्वम्। यथा मालतीमाधव-मृच्छकटिकादौ माधवचारुदत्तादि।

तत उदयगिरेरिवैक एव
स्फुरितगुणद्युतिसुन्दरः कलावान्।
इह जगति महोत्सवस्य हेतु-
र्नयनवतामुदियाय बालचन्द्रः॥

इत्यादि। यथा वा।

मखशतपरिपूतं गोत्रमुद्भासितं यत्
सदसि निबिडचैत्यब्रह्मघोषैः पुरस्तात्।
मम निधनदशायां वर्तमानस्य पापै-
स्तदसदृशमनुष्यैर्घुष्यते घोषणायाम्॥

अथ धीरोदात्तः।

महासत्त्वो धीरोदात्तो दृढव्रतः॥४॥

महासत्त्वः शोकक्रोधाद्यनभिभूतान्तःसत्त्वः। अविकत्थनोऽनात्मश्लाघनः। निगूढाहङ्कारो विनयच्छन्नावलेपः। दृढव्रतोऽङ्गीकृतनिर्वाहको धीरोदात्तः। यथा नागानन्दे। जीमूतवाहनः।

शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तम्
अद्यापि देहे मम मांसमस्ति।
तृप्तिं न पश्यामि तवैव तावत्
किं भक्षणात् त्वं विरतो गरुत्मन्॥

यथा च रामं प्रति।

आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च।
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः॥

अत्र केचित् स्थैर्यादीनां सामान्यगुणानामपि विशेषलक्षणे क्वचित् सङ्कीर्तनं तत्तया तत्राऽतिशयप्रतिपादनार्थम्। ननु च कथं जीमूत-वाहनादिर्निगीषाविरहात् धीरोदात्त उच्यते। औदात्त्यं हि नाम सर्वोत्कर्षेण

वृत्ति । तच्च विजिगीषुत्व एवोपपद्यते । जीमूतवाहनस्तु निर्जिगीषुतयैव कविना प्रतिपादितः । यथा ।

> तिष्ठन् भाति पितुः पुरो भुवि यथा सिंहासने किं तथा
> यत्संवाहयतः सुखं हि चरणौ तातस्य किं राज्यतः ।
> किं भुक्ते भुवनत्रये धृतिरसौ भुक्तोज्झिते या गुरोः
> आयासः खलु राज्यमुज्झितगुरोस्तत्रास्ति कश्चिद् गुणः ॥

इत्यनेन ।

> पित्रोर्विधातुं शुश्रूषां त्यक्त्वैश्वर्यं क्रमागतम् ।
> वनं याम्यहमप्येष यथा जीमूतवाहनः ॥

बाहुल इति नियमसापेक्षरमनाऽविर्भावानुपातावस्थातोऽवस्थान्तरगाभिनाम मनुगद्भिनोरप्यविरुद्धम् ।

अथ शृङ्गारनेतृवस्था ।

स दक्षिण   वृत्त ।

नायकप्रकरणात् पूर्वा नायिका प्रत्यन्ययाऽपूर्वनायिकयाऽपहृतचित्त स्यावस्था वक्ष्यमाणभेदेन स चतुरवस्थ । तदेव पूर्वोक्तानां चतुर्णां प्रत्येक चतुरवस्थत्वेन षोडशधा नायक ।

तत्र ।

दक्षिणोऽस्यां सहृदय

योऽस्या ज्येष्ठया हृदयेन सह व्यवहरति स दक्षिण । यथा ममैव ।

> प्रसीदत्यालोके किमपि किमपि प्रेमगुरवो
> रतिक्रीडा काऽपि प्रतिदिनमपूर्वोऽस्य विनय ।
> सविस्रम्भ कश्चित् कथयति च किञ्चित् परिजना
> न चाहं प्रत्येमि प्रियसखि किमप्यस्य विकृतिम् ॥

यथा वा ।

> उचित प्रणयो वरं विहन्तु
> बहव खण्डनहेतवो हि दृष्टा ।
> उपचारविधिर्मनस्विनीना
> ननु पूर्वाभ्यधिकोऽपि भावशून्य ॥

अथ शठ ।

गूढविप्रियकृच्छठ ।

दक्षिणस्यापि नायिकान्तरापहृतचित्ततया विप्रियकारित्वाविशेषेऽपि सहृदयत्वेन शठाद् विशेष । यथा ।

> शठान्यस्या काञ्चीमणिरणितमाकर्ण्य सहसा
> यदाऽऽश्लिष्यन्नेव प्रशिथिलभुजग्रन्थिरभव ।
> तदेतत् क्वाऽऽचक्षे घृतमधुमयत्वद्बहुवचो-
> विषेणाऽऽघूर्णन्ती किमपि न सखी मे गणयति ।

ह्यत्र न रागं माति न मदनस्य बलमन्दीत्वेनाऽऽधारस्य एकस्या स्नेहो निषिद्धो दक्षिणस्येति। अतो वत्सराजादेरा प्रबन्धसमाप्ति स्थितं दाक्षिण्य मिति। षोडशानामपि प्रत्येकं ज्येष्ठमध्यमाधमत्वेनाऽष्टाचत्वारिंशन् नायक-भेदा भवन्ति।

सहायानाह।

पताकानायकस्त्वन्य तद्गुणैः ॥७॥

प्रागुक्तप्रासङ्गिकेतिवृत्तविशेषः पताका तन्नायकः पीठमर्दः प्रधानेतिवृत्तनायकस्य सहायः। यथा मालतीमाधवे मकरन्दः रामायणे सुग्रीवः।

सहायान्तरमाह।

एकविद्यो विदूषकः।

गीतादिविद्यानां नायकोपयोगिनीनामेकस्या विद्याया वेदिता विटः। हास्यकारी विदूषकः। अस्य विकृताकारवेषादित्वं हास्यकारित्वेनैव लभ्यते। यथा शेखरको नागानन्दे विटः। विदूषकः प्रसिद्ध एव।

अथ प्रतिनायकः।

लुब्धो व्यसनी रिपुः ॥८॥

तस्य नायकस्येत्थम्भूतः प्रतिपक्षनायको भवति। यथा रामयुधिष्ठिरयोः रावणदुर्योधनौ।

अथ सात्त्विका नायकगुणाः।

शोभा गुणाः ॥९॥

तत्र।

नीचे शौर्यदक्षते।

नीचे घृणा। यथा वीरचरिते।

उत्तालताडकोत्पातदर्शनेऽप्यप्रकम्पितः।
नियुक्तस्तत्प्रमाथाय स्त्रैणेन विचिकित्सति॥

गुणाधिके स्पर्धा यथा।

एतां पश्य पुरःस्थलीमिह किल क्रीडाकिरातो हरः
कोदण्डेन किरीटिना सरभसं चूडान्तरे ताडितः।

गाम्भीर्यं नोपलक्ष्यते ॥११॥

मृदुविकारोपलम्भाद् विकारानुपलब्धिरत्र धीमाधुर्यात् गाम्भीर्यम्। यथा।

> आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च।
> न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रम ॥

अथ स्थैर्यम्।

व्यवसायाद कुलादपि।

यथा वीरचरिते।

> प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात्।
> न त्वेव दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम्।

अथ तेजः।

अधिक्षेपाद्यसहनं तेजः प्राणात्ययेष्वपि ॥१२॥

यथा।

> ब्रूत नूतनकूष्माण्डफलानां के भवन्त्यमी।
> अङ्गुलीदर्शनाद् येन न जीवन्ति मनस्विनः ॥

अथ ललितम्।

शृङ्गाराकार ललितं मृदु।

स्वाभाविकः शृङ्गारो मृदु। तथाविधा शृङ्गारचेष्टा च ललितम्। यथा ममैव।

> लावण्यमन्मथविलासविजृम्भितेन
> स्वाभाविकेन सुकुमारमनोहरेण।
> किं वा ममैव सखि योऽपि ममोपदेष्टा
> तस्यैव किं न विषमं विदधीत तापम् ॥

अथौदार्यम्।

प्रियोक्त्या सदुपग्रहः ॥१३॥

प्रियवचनेन सहाऽऽजीविताववधेर्दानमौदार्यं सतामुपग्रहश्च। यथा नागानन्दे।

शिरोमुखैः स्यन्दत एव रक्तम्
अद्यापि देहे मम मांसमस्ति।
तृप्तिं न पश्यामि तवैव तावत्
किं भक्षणात् त्वं विरतो गरुत्मन्॥

सानुग्रहो यथा।

एते वयममी दारा कन्येयं कुलजीवितम्।
वदतैनात्र न कार्यमस्त्यास्था बाह्यवस्तुषु॥

अथ नायिका।

स्वान्या   नायिका त्रिधा।

तद्गुणापि यथोक्तसम्भवि नायकसामान्यगुणयोगिनी नायिकेति। स्वस्त्री परस्त्री साधारणस्त्रीत्यनेन विभागेन त्रिधा।

तत्र स्वीयाया विभागगर्भं सामान्यलक्षणमाह।

मुग्धा   शीलार्जवादियुक्॥१५॥

शीलं सुवृत्तम्। पतिव्रताऽकुटिला लज्जावती पुरुषोपचारनिपुणा स्वीया नायिका।

तत्र शीलवती यथा।

[1]कुलबालिआए पेच्छह जोव्वणलाअण्णविब्भमविलासा।
पवसंति व्व पवसिए एंति व्व पिये घरं एंते॥

आर्जवयोगिनी यथा।

हसिअमविआरमुद्धं भमिअं विरहिअविलाससुच्छाअं।
भणिअं सहावसरलं धण्णाण घरे कलत्ताणम्॥

लज्जावती यथा।

कुलबालिकायाः प्रेक्षध्वं यौवनलावण्यविभ्रमविलासाः।
प्रवसन्तीव प्रवसिते आगच्छन्तीव प्रिये गृहमागते॥
हसितमविकारमुग्धं भ्रमितं विरहितविलाससुच्छायम्।
भणितं स्वभावसरलं धन्यानां गृहे कलत्राणाम्॥

[1]लज्जापज्जत्तपसाहणाइं परतित्तिणिप्पिवासाइं ।
अविणअदुम्मेहाइं धण्णाण घरे कलत्ताइं ॥

सा चैवंविधा स्वीया मुग्धामध्याप्रगल्भाभेदात् त्रिविधा ।

तत्र ।

मुग्धा नववयः … मृदुः क्रुधि ।

प्रथमावतीर्णतारुण्यमन्मथा रमणे वामशीला सुखोपायप्रसादना मुग्धनायिका ।

तत्र वयोमुग्धा यथा ।

विस्तारी स्तनभार एष गमितो न स्वोचितामुन्नतिं
रेखोद्भासिकृतं वलित्रयमिदं न स्पष्टनिम्नोन्नतम् ।
मध्येऽस्या ऋजुरायतार्धकपिशा रोमावली निर्मिता
रम्यं यौवनशैशवव्यतिकरोन्मिश्रं वयो वर्तते ॥

यथा च ममैव ।

उच्छ्वसन्मण्डलप्रान्तरेखमाबद्धकुड्मलम् ।
अपर्याप्तमुरोवृद्धे शंसत्यस्या स्तनद्वयम् ॥

काममुग्धा यथा ।

दृष्टिः सालसतां बिभर्ति न शिशुक्रीडासु बद्धादरा
श्रोत्रे प्रेषयति प्रवर्तितसखीसम्भोगवार्तास्वपि ।
पुंसामङ्कमपेतशङ्कमधुना नाऽऽरोहति प्राग् यथा
बाला नूतनयौवनव्यतिकरावष्टभ्यमाना शनैः ॥

रतवामा यथा ।

व्याहृता प्रतिवचो न सन्दधे
गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका ।
सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी
सा तथापि रतये पिनाकिनः ॥

---

१ लज्जापर्याप्तप्रसाधनानि परतृप्तिनिष्पिपासानि ।
अविनयदुर्मेधांसि धन्यानां गृहे कलत्राणि ॥

तत्र विकारहेतौ सत्यपि अविक्रियत्वं सत्त्वम्। यथा कुमारसम्भवे।

श्रुताप्सरोगीतिरपि क्षणेऽस्मिन्
हरः प्रसंख्यानपरो बभूव।
आत्मेश्वराणां न हि जातु विघ्नाः
समाधिभेदप्रभवो भवन्ति॥

तस्मादविकाररूपात् सत्त्वाद् यः प्रथमो विकारोऽन्तर्विपरिवर्ती बीजस्यानुच्छूनतेव स भावः। यथा।

दृष्टिं सालसतां बिभर्ति न शिशुक्रीडासु बद्धादरा
श्रोत्रे प्रेषयति प्रवर्तितसखीसम्भोगवार्तास्वपि।
पुंसामङ्कमपेतशङ्कमधुना नारोहति प्राग् यथा
बाला नूतनयौवनव्यतिकरावष्टभ्यमाना शनैः॥

यथा वा कुमारसम्भवे।

हरस्तु किञ्चित् परिलुप्तधैर्य-
श्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे
व्यापारयामास विलोचनानि॥

यथा वा ममैव।

ण विअप्प बअण ण णअण लोअण वाअण पि ण कीरइ।
अणा अणाङ्गुणवड्डी अण विअप्प जि पि लाहिइ।

अथ हावः

हेवाकसस्तु शृङ्गारो हावोऽक्षिभ्रूविकारकृत्॥३१॥

प्रतिनियताङ्गविकारकारी शृङ्गारस्वभावविशेषो हावः। यथा ममैव।

१ तहेव वअण से वअ लोअणे मोहणम्मि तहेव।
अन्गणाणङ्गस्समारम्भेण किम्मि साहअन्ति॥

दयितावलोकनादिकालेऽङ्गे क्रियायां वचने च सातिशयविशेषोत्पत्तिर्विलासः । यथा मालतीमाधवे ।

> अत्रान्तरे किमपि वाग्विभवातिवृत्त
> वैचित्र्यमुल्लसितविभ्रममायताक्ष्याः ।
> तद् भूरिसात्त्विकविकारविशेषरम्यम्
> आचार्यकं विजयि मान्मथमाविरासीत् ॥

अथ विच्छित्तिः ।

आकल्परचना   पोषकृत् ।

स्तोकोऽपि वेषः कमनीयताकारी विच्छित्तिः । यथा कुमारसम्भवे ।

> कर्णार्पितो लोध्रकषायरूक्षे
> गोरोचनाक्षेपनितान्तगौरे ।
> तस्याः कपोले परभागलाभाद्
> बबन्ध चक्षूंषि यवप्ररोहः

अथ विभ्रमः ।

विभ्रमस्त्वरया   विपर्ययः ॥३६॥

यथा ।

> अभ्युद्गते शशिनि पेशलकान्तदूती-
> संलापसंवलितलोचनमानसाभिः ।
> अग्राहि मण्डनविधिर्विपरीतभूषा
> विन्यासहासितसखीजनमङ्गनाभिः ॥

यथा वा ममैव ।

> श्रुत्वाऽऽयान्तं बहिः कान्तमसमाप्तविभूषया ।
> भालेऽञ्जनं दृशोर्लाक्षा कपोले तिलकः कृतः ॥

अथ किलकिञ्चितम् ।

क्रोधाद्   किलकिञ्चितम् ।

यथा ममैव

तदवितथमवादीर्यन् मम त्वं प्रियेति
प्रियजनपरिभुक्तं यद् दुकूलं दधानः ।
मदधिवसतिमागा कामिनां मण्डनश्री
र्व्रजति हि सफलत्वं वल्लभालोकनेन ॥

भयनर्म यथा रत्नावल्यामालेख्यदर्शनावसरे । सुसङ्गता । [1]जाणिदो मए एसो सव्वो वुत्तन्तो समं चित्तफलहएण ता देवीए णिवेदइस्स मित्यादि ।

शृङ्गारभयनर्म । यथा ममैव ।

अभिव्यक्तालीकः सकलविफलोपायविभव
श्चिरं ध्यात्वा सद्यः कृतकृतकसंरम्भनिपुणम् ।
इतः पृष्ठे पृष्ठे किमिदमिति सन्त्रास्य सहसा
कृताश्लेषं धूर्तः स्मितमधुरमालिङ्गति वधूम् ॥

अथ नर्मस्फञ्जः ।

नर्मस्फञ्जः 'नवसङ्गमे ।

यथा मालविकाग्निमित्रे सङ्केते नायकमभिसृतायां नायिकायां नायकः ।

विसृज सुन्दरि सङ्गमसाध्वसं
ननु चिरात् प्रभृति प्रणयोन्मुखे ।
परिगृहाण गते सहकारतां
त्वमतिमुक्तलताचरितं मयि ॥

मालविका । [2]भट्टा देवीए भएण अत्तणो वि पियं कादुं ण पारेमीत्यादि ।

अथ नर्मस्फोटः ।

नर्मस्फोटस्तु ... ॥४०॥

यथा मालतीमाधवे । मकरन्दः ।

---

१ ज्ञातो मयैष सर्वो वृत्तान्तः सह चित्रफलकेन तद् देव्यै निवेदयिष्यामि ।
२ भर्तः देव्या भयेनात्मनोऽपि प्रियं कर्तुं न पारयामि ।

एतावताऽपि परिरभ्य कृतप्रसादः
प्रागेव प्रियगुणो भगवान् गुरुर्मे ॥

इत्यादिनानाप्रकारभावरसेन रामपरशुरामयोरन्योन्यगभीरवचसा प्रलाप इति ।

अथोत्थापकः ।

उत्थापकस्तु परम् ॥५॥

यथा वीरचरिते ।

आनन्दाय च विस्मयाय च मया दृष्टोऽसि दुःखाय वा
वैतृष्ण्यं तु कुतोऽद्य सम्प्रति मम त्वद्दर्शने चक्षुषः ।
त्वत्साङ्गत्यसुखस्य नाऽस्मि विषयः किं वा बहुव्याहृतै-
रस्मिन् विश्रुतजामदग्न्यविजये बाहौ धनुर्जृम्भताम् ॥

अथ साङ्घात्यः ।

मन्त्रार्थ सङ्घभेदनम् ।

मन्त्रशक्त्या । यथा मुद्राराक्षसे राक्षससहायानां चाणक्येन स्वबुद्ध्या भेदनम् । अर्थशक्त्या तत्रैव । यथा पर्वतकाभरणस्य राक्षसहस्तगमनेन मलयकेतुसहायाभिभेदनम् । दैवशक्त्या तु । यथा रामायणे रामस्य दैवशक्त्या रावणाद् विभीषणस्य भेद इत्यादि ।

अथ परिवर्तकः ।

प्रारब्धोत्थान परिवर्तकः ॥११॥

प्रस्तुतस्योत्साहोपयोगिकार्यस्य परित्यागेन कार्यान्तरकरणं परिवर्तकः ।
यथा वीरचरिते ।

हेरम्बदन्तमुसलोल्लिखितैकभित्ति
वक्षो विशाखविशिखव्रणलाञ्छनं मे ।
रोमाञ्चकञ्चुकितमद्भुतवीरलाभाद्
यत् सत्यमद्य परिरब्धुमिवेच्छति त्वाम् ।

राम । भगवन् परिरम्भणमिति प्रस्तुतप्रतीपमेतदित्यादि ।

भारतीमुपसंहरन्नारभटीलक्षणमाह ।

तृतीय प्रकाश

अधुनातन्त्रतया रसविचारातिशयक्रमेण वस्तुनेतृरसानां विभज्य नाटकादिषूपयोगः प्रतिपाद्यते ।

प्रकृति   नाटकमुच्यते ॥१॥

उद्दिष्टधर्मकं हि नाटकमनुद्दिष्टधर्माणां प्रकरणादीनां प्रकृतिः । शेषं प्रतीतम् ।

तत्र ।

पूर्वरङ्ग   नटः ॥२॥

पूर्वं रङ्गोऽस्मिन्निति पूर्वरङ्गो नाट्यशाला । तत्स्थप्रथमप्रयोगव्युत्थापनादौ पूर्वरङ्गता । तं विधाय विनिर्गते प्रथमं सूत्रधारे तद्वदेव [1]वैष्णवस्थानकादिना प्रविश्यान्यो नटः काव्यार्थं स्थापयेत् । स च काव्यार्थस्थापनात् सूचनात् स्थापकः ।

दिव्यमर्त्ये   पात्रमथापि वा ॥३॥

स स्थापको दिव्यं वस्तु दिव्यो भूत्वा मर्त्यं च मर्त्यरूपो भूत्वा मिश्रं च दिव्यमर्त्ययोरन्यतरो भूत्वा सूचयेत् । वस्तु बीजं मुखं पात्रं वा । वस्तु यथोदात्तराघवे ।

> रामो मूर्ध्नि निधाय काननमगान्मालामिवाज्ञां गुरो-
> स्तद्भक्त्या भरतेन राज्यमखिलं मात्रा सहैवोज्झितम् ।
> तौ सुग्रीवविभीषणावनुगतौ नीतौ परां सम्पदं
> प्रोद्वृत्ता दशकन्धरप्रभृतयो ध्वस्ताः समस्ता द्विषः ॥

बीजं यथा रत्नावल्याम् ।

---

१ वीर्यतारविकारेश चरितको वैष्णवस्थानकम् । आदिदक्ष्मात् तालु [illegible]
कासिका चरितको शौरसेनि कारयति [illegible]

यस्त्वेकैकमपीह वाञ्छितफलप्राप्तेः पदं किं पुनः
मद्भाग्योपचयादयं समुदितः सर्वो गुणानां गणः ॥

वीथी· 'तत् पुनः ॥६॥

सूत्रधारो· 'तथामुखम् ॥७॥

प्रस्तावना· 'कथोद्घा ॥८॥

तत्र कथोद्घातः ।

स्वेतिवृत्तसमं द्विधैव सः ॥९॥

वाक्यं यथा रत्नावल्याम् । यौगन्धरायणः । द्वीपादन्यस्मादपीति ।

वाक्यार्थं यथा वेणीसंहारे । सूत्रधारः ।

निर्वाणवैरिदहनाः प्रशमादरीणां
नन्दन्तु पाण्डुतनयाः सह माधवेन ।
रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च
स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः ॥

ततोऽस्यमाद्य । भीमः ।

लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशैः
प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य ।
आकृष्टपाण्डववधूपरिधानकेशाः
स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः ॥

अथ प्रवृत्तकम् ।

कालसाम्य 'प्रवृत्तकम् ।

प्रवृत्तकालसमानगुणवर्णनया सूचितपात्रप्रवेशं प्रवृत्तकं यथा ।

आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः
प्राप्तः शरत्समय एष विशुद्धकान्तः ।
उत्खाय गाढतमसं घनकालमुग्रं
रामो दशास्यमिव संभृतबन्धुजीवः ॥

ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टो रामः ।

अथ प्रयोगातिशयः ।

विदूषकं प्रति । आर्य उच्यतां यस्त्वया कमभेदो लक्षित । विदूषक ।
[1]प्रथम पच्चूसे बम्हणस्स पूआ भोदि सा तए लङ्घिदा । मालविका स्मयते
इत्यादिना नायकस्य विप्रलम्भनायिकादर्शनप्रयुक्तेन हास्यलाभकारिणा
वचनेन व्याहार ।

अथ मृदवम् ।

दोषा' 'तत् ॥१८॥

यथा शाकुन्तले ।

मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्थानयोग्यं वपु
सत्त्वानामुपलक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयो ।
उत्कर्ष स च धन्विना यदिषव सिध्यन्ति लक्ष्ये चले
मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग् विनोद कुत ॥

इति मृगयादोषस्य गुणीकार ।

यथा च ।

सततमनिर्वृतमानसमायाससहस्रसङ्कुलक्लिष्टम् ।
गतनिद्रमविश्वासं जीवति राजा जिगीषुरयम् ॥

इति राज्यगुणस्य दोषीभाव ।

उभय वा ।

सन्त सच्चरितोदयव्यसनिन प्रादुर्भवद्यन्त्रणा
सर्वत्रैव जनापवादचकिता जीवन्ति दु ख सदा ।
अव्युत्पन्नमति कृतेन न सता नैवाऽसता व्याकुलो
युक्तायुक्तविवेकशून्यहृदयो धन्यो जन प्राकृत ॥

इति प्रस्तावनाङ्गानि ।

एषा प्रपञ्चयेत् ॥१९॥

तत्र ।

अभिगम्य 'महीयति ॥२ ॥

अथ्यापातर्वंशो' ऽऽधिकारिकम् ॥२१॥

---

१ प्रथमं प्रत्यूषे ब्राह्मणस्य पूजा भवति सा त्वया लङ्घिता ।

विदूषकं प्रति । भार्य उन्मत्ता मत्स्यया ज्ञमभवा भविता । विदूषकः ।
[1]परम पम्बूके बम्हणस्स पुत्रा मोदि सा तए सङ्किदा। मालविका स्मयते
इत्यादिना नायकस्य विश्रम्भलाभिकारजननप्रयुक्तेन हास्यसामकारिणा
वचनेन व्याहार ।

अथ मृदवम् ।

दोषा गुण ॥१८॥

यथा शाकुन्तले ।

मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्थानयोग्यं वपु
सत्त्वानामुपलक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः ।
उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले
मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग् विनोदः कुतः ॥

इति मृगयाव्यसनस्य गुणीकार ।

यथा च ।

सततमनिर्वृतमानसमायाससहस्रसङ्कुलक्लिष्टम् ।
गतनिद्रमविश्वासं जीवति राजा जिगीषुरयम् ॥

इति राज्यसुखस्य दोषीभाव ।

उभय वा ।

सन्तः सच्चरितोदयव्यसनिनः प्रादुर्भवद्यन्त्रणाः
सर्वत्रैव जनापवादचकिता जीवन्ति दुःखं सदा ।
अव्युत्पन्नमतिः कृतेन न सता नैवासता व्याकुलो
युक्तायुक्तविवेकशून्यहृदयो धन्यो जनः प्राकृतः ॥

इति प्रस्तावनाङ्गानि ।

एषां प्रपञ्चयेत् ॥११॥

तत्र ।

अभिधेयम् ...महीपतिः ॥२ ॥

प्रख्यातवंशो ...दधिकारिकम् ॥२१॥

---

१ प्रकर्म मत्पुष बाह्मणस्य पुत्रा भवति सा तया शङ्किता ।

विशेषा   चारिणो ॥६॥

यथा वारिधौ सत्येव कल्लोला उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति च तद्वत् रत्यादौ स्थायिनि सत्येवाविर्भावतिरोभावाभ्यामाभिमुख्येन चरन्तो वर्तमाना निर्वेदादयो व्यभिचारिणो भावाः । ते च ।

निर्वेद   अमदश्र ॥७॥

तत्र निर्वेदः ।

तत्त्व   दीनता ॥८॥

तत्त्वज्ञानात् निर्वेदो यथा ।

> प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किं
> दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम् ।
> सम्प्रीणिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं
> कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम् ॥

आपदो यथा ।

> राज्ञो विपद् बन्धुवियोगदुःखं
> देशच्युतिर्दुर्गममार्गखेदः ।
> आस्वाद्यतेऽस्याः कटुनिष्फलायाः
> फलं ममैतत् चिरजीवितायाः ॥

ईर्ष्यातो यथा ।

> धिक् धिक् शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
> स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनपरैः पीनैः किमेभिर्भुजैः ।
> न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
> सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसभटान् जीवत्यहो रावणः ।

वीरशृङ्गारयोर्व्यभिचारी निर्वेदो यथा ।

> ये बाहवो न युधि वैरिकठोरकण्ठ-
> पीठाच्छलद्रुधिरराजिविराजितांसाः ।
> नापि प्रियापृथुपयोधरपत्रभङ्ग-
> सङ्क्रान्तकुङ्कुमरसाः खलु निष्फलास्ते ।

हत्वा सुबाहोरपि ताडकारि
स राजपुत्रो हृदि बाधते माम् ।

अनया दिशाऽन्यदनुसर्तव्यम् ।

अथ श्रम

श्रम.   मर्दनादय ।

अध्वतो यथोत्तररामचरिते ।

अलसलुलितमुग्धान्यध्वसम्पातखेदा
दशिथिलपरिरम्भैर्दत्तसंवाहनानि ।
परिमृदितमृणालीदुर्बलान्यङ्गकानि
त्वमुरसि मम कृत्वा यत्र निद्रामवाप्ता ॥

रतिश्रमो यथा माघे ।

प्राप्य मन्मथरसादतिभूमिं दुर्वहस्तनभराः सुरतस्य ।
शश्रमुः श्रमजलार्द्रललाटश्लिष्टकेशमसितायतकेश्यः ॥

इत्याद्युत्प्रेक्ष्यम् ।

अथ धृतिः ।

सन्तोषो   भोगकृत् ॥११॥

ज्ञानाद्यथा भर्तृहरिशतके ।

वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं च लक्ष्म्या
सम इह परितोषो निर्विशेषो विशेषः ।
स तु भवतु दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः ॥

शक्तितो यथा रत्नावल्याम् ।

राज्यं निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्तः समस्तो भरः
सम्यक्पालनलालिताः प्रशमिताशेषोपसर्गाः प्रजाः ।
प्रद्योतस्य सुता वसन्तसमयस्त्वं चेति नाम्ना धृतिं
कामः काममुपैत्वयं मम पुनर्मन्ये महानुत्सवः ॥

इत्याद्यूह्यम् ।

क्षुभ्यन्ति प्रसभमहो विनाऽपि हेतो-
र्लीलाभिः किमु सति कारणे रमण्यः ॥

यथाऽसूया ।

परोत्कर्षा   तानि च ॥१६॥

गर्वे यथा वीरचरिते ।

अर्थित्वे प्रकटीकृतेऽपि न फलप्राप्तिः प्रभोः प्रत्युत
द्रुह्यन् दाशरथिर्विरुद्धचरितो युक्तस्तया कन्यया ।
उत्कर्षं च परस्य मानयशसोर्विस्रंसनं चाऽऽत्मनः
स्त्रीरत्नं च जगत्पतिर्दशमुखो दृप्तः कथं मृष्यते ॥

दौर्मन्याद् यथा ।

यदि परगुणा न क्षम्यन्ते यतस्व गुणार्जने
नहि परयशो निन्दाव्याजैरलं परिमार्जितुम् ।
विरमसि न चेदिच्छाद्वेषप्रसक्तमनोरथो
दिनकरकरान् पाणिच्छत्रैर्नुदन् श्रममेष्यसि ॥

मन्युजा यथाऽमरुशतके ।

पुरस्तन्व्या गोत्रस्खलनचकितोऽहं नतमुखः
प्रवृत्तो वैलक्ष्यात् किमपि लिखितुं दैवहतकः ।
स्फुटो रेखान्यासः कथमपि स तादृक् परिणतो
गता येन व्यक्तिं पुनरवयवैः सैव तरुणी ॥
ततश्चाऽभिज्ञाय स्फुरदरुणगण्डस्थलरुचा
मनस्विन्या रोषप्रणयरभसाद् गद्गदगिरा ।
अहो चित्रं चित्रं स्फुटमिति निगद्याश्रुकलुषं
रुषा ब्रह्मास्त्रं मे शिरसि निहितो वामचरणः ॥

यथाऽमर्षः ।

अधिक्षे   नादय ॥१७॥

यथा वीरचरिते ।

प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात् ।
न त्वेवं दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम् ॥

यथा वा वेणीसंहारे ।

युष्मच्छासनलङ्घनाम्भसि मया मग्नेन नाम स्थितं
प्राप्ता नाम विगर्हणा स्थितिमतां मध्येऽनुजानामपि ।
क्रोधोल्लासितशोणितारुणगदस्योच्छिन्दतः कौरवान्
अद्यैकं दिवसं ममासि न गुरुर्नाहं विधेयस्तव ॥

अथ गर्वः ।

गर्वो वीजरलम् ॥१८॥

यथा वीरचरिते ।

मुनिरयमथ वीरस्तादृशस्तत्प्रियं मे
विरमतु परिकम्पः कातरे क्षत्रियासि ।
तपसि विततकीर्तेर्दर्पकण्डूलदोष्णः
परिचरणसमर्थो राघवः क्षत्रियोऽहम् ॥

यथा वा तत्रैव ।

ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये ।
जामदग्न्यश्च वो मित्रमन्यथा दुर्मनायते ॥

अथ स्मृतिः ।

स्मृतिः माधव ।

यथा ।

मैनाकः किमयं रुणद्धि गगने मन्मार्गमव्याहतं
शक्तिस्तस्य कुतः स वज्रपतनाद् भीतो महेन्द्रादपि ।
तार्क्ष्यः सोऽपि समं निजेन विभुना जानाति मां रावणम्
आ ज्ञातं स जटायुरेष जरसा क्लिष्टो वधं वाञ्छति ॥

यथा वा मालतीमाधवे । माधवः । मम हि प्राक्तनोपलम्भसम्भा-
वितात्मजन्मनः संस्कारस्यानवरतप्रबोधात् प्रतायमानस्तद्विसदृशैः

प्रत्ययान्तरैरतिरस्कृतप्रवाहः प्रियतमास्मृतिप्रत्ययोत्पत्तिसन्तानस्तन्मयमिव करोतीति वृत्तिसारूप्यतस्तन्मयम् ।

> लीनेव प्रतिबिम्बितेव लिखितेवोत्कीर्णरूपेव च
> प्रत्युप्तेव च वज्रलेपघटितेवान्तर्निखातेव च ।
> सा नश्चेतसि कीलितेव विशिखैश्चेतोभुवः पञ्चभि
> श्चिन्तासन्ततितन्तुजालनिबिडस्यूतेव लग्ना प्रिया ॥

अथ मरणम् ।

मरणं नोच्यते ॥ १९ ॥

यथा ।

> सम्प्राप्तेऽवधिवासरे क्षणमनु त्वद्वर्त्मवातायनं
> वारं वारमुपेत्य निष्क्रियतया निश्चित्य किञ्चिच्चिरम् ।
> सम्प्रत्येव निवेद्य केलिकुररीं सास्रं सखीभ्यः शिशो
> र्माधव्याः सहकारकेण करुणः पाणिग्रहो निर्मितः ॥

इत्यादिवत् शृङ्गाराश्रयालम्बनत्वेन मरणे व्यवसायमात्रमुपनिबन्धनीयम् । अन्यत्र कामचारः । यथा वीरचरिते । पश्यन्तु भवन्तस्ताटकाम् ।

> हृन्मर्मभेदिपतदुत्कटकङ्कपत्र
> संवेगतत्क्षणकृतस्फुरदङ्गभङ्गा ।
> नासाकुटीरकुहरद्वयतुल्यनिर्य
> दुद्बुद्बुदध्वनदसृक्प्रसरा मृतैव ॥

अथ मदः ।

हर्षोत्कर्षो पानादिषु ।

यथा माघे ।

> हावहारि हसितं वचनानां कौशलं दृशि विकारविशेषाः ।
> चक्रिरे भृशमृजोरपि वध्वाः कामिनेव तरुणेन मदेन ॥

इत्यादि ।

अथ सुप्तम् ।

सुप्त   परम् ॥ २ ॥

यथा ।

> अधुनि तृणकुटीरे क्षेत्रकोणे भयाना
> नवकलमपलालस्रस्तरे सोपधाने ।
> परिहरति सुषुप्त हालिकद्वन्द्वमारात्
> कुचकलशमहोष्मावद्धरेखस्तुषारः ॥

अथ निद्रा ।

मनः   श्रावम ॥

यथा ।

> निद्रार्धमीलितदृशो मदमन्थराणि
> नाप्यर्थवन्ति न च यानि निरर्थकानि ।
> अद्यापि मे मृगदृशो मधुराणि तस्या
> स्तान्यक्षराणि हृदये किमपि ध्वनन्ति ।

यथा च माघ ।

> प्रहरकमपनीय स्वं निदिद्रासतोच्चै
> प्रतिपदमुपहूत केनचिज्जागृहीति ।
> मुहुरविशदवर्णां निद्रया शून्यशून्यां
> ददपि गिरमन्तर्बुध्यते नो मनुष्य ॥

अथ विबोध ।

विबोध   मति ॥ २१॥

यथा माघ ।

> चिररतिपरिखेदप्राप्तनिद्रासुखाना
> चरममपि शयित्वा पूर्वमेव प्रबुद्धा ।
> अपरिचलितगात्रा कुर्वते न प्रियाणाम्
> अशिथिलभुजचक्राश्लेषभेदं तरुण्य ॥

अथ व्रीडा ।

दुराचारा   मुखादिभि ॥ २२ ॥

यथाऽमरुशतके ।

पटालग्ने पत्यौ नमयति मुखं जातविनया
हठाश्लेषं वाञ्छत्यपहरति गात्राणि निभृतम् ।
न शक्नोत्याख्यातुं स्मितमुखसखीदत्तनयना
ह्रिया ताम्यत्यन्तः प्रथमपरिहासे नववधूः ॥

अथापस्मारः ।

आवेशो भाषणम् ॥ २३ ॥

यथा माघे ।

आश्लिष्टभूमिं रसितारमुच्चै
र्लोलद्भुजाकारबृहत्तरङ्गम् ।
फेनायमानं पतिमापगाना
मसावपस्मारिणमाशशङ्के ॥

अथ मोहः ।

मोहो घूर्णनादयः ॥ २४ ॥

यथा कुमारसम्भवे ।

तीव्राभिषङ्गप्रभवेण वृत्तिं
मोहेन संस्तम्भयतेन्द्रियाणाम् ।
अज्ञातभर्तृव्यसना मुहूर्तं
कृतोपकारेव रतिर्बभूव ॥

यथा चोत्तररामचरिते ।

विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा
प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः ।
तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥

अथ मतिः ।

भ्रान्ति धीर्मतिः ।

यथा किराते ।

मारोहत्स्फुटचन्द्र मानय घटया वाचयमा मप्यमी
सद्यो मुक्तसमाप्यो निजवृपीप्रोबोज्झपाद स्थिता ।

वातावेगो यथा ।

वाताहृतं वसनमाकुलमुत्तरीयम् ।

इत्यादि ।

वर्षजो यथा ।

देवे वर्षत्यशनपचनव्यापृता वह्निहेतो
र्गेहाद् गेहं फलकनिचितैः सेतुभिः पङ्कभीताः ।
नीध्रप्रान्तानविरलजलान् पाणिभिस्ताडयित्वा
शूर्पच्छत्रस्थगितशिरसो योषितः सञ्चरन्ति ॥

उत्पातजो यथा ।

पौलस्त्यपीनभुजसम्पदुदस्यमान
कैलाससम्भ्रमविलोलदृशः प्रियायाः ।
श्रेयांसि वो दिशतु निह्नुतकोपचिह्नम्
आलिङ्गनोत्पुलकमासितमिन्दुमौलेः ॥

अहितकरसत्त्वनिमित्तसम्भ्रमयथाम् । तद् यथा । उत्तररामचरिते । चित्रमाय । ससम्भ्रमम् । भगवन् कुलपते रामभद्र परित्रायतां परित्रायतां इत्याकुलता माण्डव्यानीत्यादि । पुनश्चित्रमाय ।

कृतरूपं परित्यज्य विधाय विकटं वपुः ।
नीयते रक्षसानेन लक्ष्मणो युधि संशयम् ॥

गज ।

करमस्याप्यपकारिणे प्रतिमम मन्ये मम रागमात्
मस्तादेव कुर्मिविरीनि मनगरभाज्यव मे सम्भ्रम ।
माहात्मीर्जनवारमशामिनि मुहु स्नेहाद् गुरुर्याचते
न स्यात् न च पन्नुमातुपामर्षेमूर्धन्य मे निरचय ॥

इत्यनेनात्मनिष्पादितसम्भ्रम ।

इच्छाभिलाषा यथार्थैव । अविनय पन्नम्रोग सम्भाग्नो वानर ।

भाजनं । महाराज एवं नु वयस्यान्तरागामण्डागा पारिमेरयादि देवस्य हृदयाह्लादजनक विभ्रमैर्मदनकालिमालम् ।

यथा वा वीरचरिते ।

> एह हि वत्स रघुनन्दन पूर्णचन्द्र
> चुम्बामि मूर्धनि चिरस्य परिष्वजे त्वाम् ।
> आरोप्य वा हृदि दिवानिशमुद्वहामि
> वन्देऽथवा चरणपुष्करकद्वयं ते ॥

वह्निजो यथाऽमरुशतके ।

> क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं
> गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण ।
> आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
> कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः ॥

यथा वा रत्नावल्याम् ।

> विरम विरम वह्ने मुञ्च धूमाकुलत्वं
> प्रसरयसि किमुच्चैरर्चिषां चक्रवालम् ।
> विरहहुतभुजाहं यो न दग्धः प्रियायाः
> प्रलयदहनभासा तस्य किं त्वं करोषि ॥

करिजो यथा रघुवंशे ।

> स च्छिन्नबन्धद्रुतयुग्यशून्यं
> भग्नाक्षपर्यस्तरथं क्षणेन ।
> रामापरित्राणविहस्तयोधं
> सेनानिवेशं तुमुलं चकार ॥

करिजस्य व्यालोपलक्षणार्थम् । तेन व्याघ्रसूकरवानरादिप्रभवा आवेगा व्याख्याताः ।

अथ वितर्कः ।

---

१ महाराजस्य खलु वयस्यानामन्तरेण सहचरादि देवस्य हृदयानन्द जनन चिरमित मधुपर्वमित्यन्तरम् ।

अयमपि पटुर्धारासारो न बाणपरम्परा
कनकनिकषस्निग्धा विद्युत् प्रिया न ममोर्वशी ॥

इत्यादि ।

अथ विषादः ।

प्रारब्ध   विषादः ॥२९॥

यथा वीरचरिते । हा आर्ये ताटके किं हि नामैतत् । अम्बुनि मज्जन्त्यलाबूनि ग्रावाणः प्लवन्ते ।

नन्वेष राक्षसपतेः स्खलितः प्रतापः
प्राप्तोऽद्भुतः परिभवो हि मनुष्यपोतात् ।
दृष्टः स्थितेन च मया स्वजनप्रमाथो
दैन्यं जरा च निरुणद्धि कथं करोमि ॥

अथौत्सुक्यम् ।

कालाक्षम   चिन्तादयः ॥३०॥

यथा कुमारसम्भवे ।

आत्मानमालोक्य च शोभमानम्
आदर्शबिम्बे स्तिमितायताक्षी ।
हरोपयाने त्वरिता बभूव
स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेषः ॥

यथा वा तत्रैव ।

पशुपतिरपि तान्यहानि कृच्छ्राद्
अगमयदद्रिसुतासमागमोत्कः ।
कमपरमवशं न विप्रकुर्युर्
विभुमपि तं यदमी स्पृशन्ति भावाः ॥

अथ चापलम् ।

मात्सर्य   चरणादयः ॥३१॥

यथा विकटनितम्बायाः ।

सम्भोगेन तथाविभावानुभावाद्युन्मीलनस्तु सम्भवत । तस्मात् न तावद्
भावाना सहानवस्थानम्। वाध्यबाधकभावस्तु भावान्तरैर्भावान्तरतिर
स्कार । स च अविचारिणा स्थायिनामविरुद्धव्यभिचारिभिश्च स्थायिनो-
ऽविरुद्धासनामङ्गत्वात् प्रधानविरुद्धस्य चाऽङ्गत्वामोदासमस्त्वर्मविरोधि
त्वमन्येन प्रकारेणापास्त भवति । तथा च मालतीमाधवे शृङ्गाररसान्तर
बीभत्सोपनिबन्धेऽपि न किञ्चिद् वैरस्य तदेवमेव भिन्ने विरुद्धरसकाव
सम्यक्त्वमेव विरोध हेतु । तथाविधरसान्तरस्यवधानेनोपनिबध्यमानो
न विरोधी । यथा ।

भूतरूपाणाद्ममहसनिमह्मुखपरिमुखुपमन्तु ।
गुञ्जत्मन्द मधत्यमहमङ्गन पिट्टं यत्नु ॥

अत्र बीभत्सरसव्याऽङ्ग मूलरसान्तरव्यवधानेन शृङ्गाररसमावेशो न विरुद्ध
प्रकारान्तरैरेवायमविरोधी परिहर्तव्य । ननु यथैकतात्पर्येणैव
विरुद्धानामविरुद्धाना च स्वयमुत्पन्नोपादान तत्र भवत्यङ्गत्वेनाविरोधः ।
यत्र तु समप्रधानत्वेनानेकस्य भावस्योपनिबन्धन तत्र कथम् । यथा ।

[1]एक्कत्तो रुअइ पिआ अण्णत्तो समरतूरणिग्घोसो ।
पेम्मेण रणरसेण अ भडस्स डोलाइअं हिअअं ॥

इत्यादौ रत्युत्साहयोः । यथा वा ।

मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यम्
आर्याः समर्यादमिदं वदन्तु ।
सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणाम्
उत स्मरस्मेरविलासिनीनाम् ॥

इत्यादौ रतिशमयोः । यथा च ।

इयं सा लोलाक्षी त्रिभुवनललामैकवसति-
स चायं दुष्टात्मा स्वसुरपकृतं येन मम तत् ।

---

१ एकतो रोदिति प्रियाऽन्यतः समरतूर्यनिर्घोषः ।
प्रेम्णा रणरसेन च भटस्य दोलायितं हृदयम् ॥

प्रसूयमाना रसास्वादोऽभून् । यत्र च विरोधिभावसधर्मणीभ्यां बाध्यात्व रसादिस्थितधर्मिणो व्यभिचारिणः व्यञ्जकत्वलक्षणं धर्ममुपादाय रसा-लङ्कारवस्तुविषयमित्युच्यते । तथाहि । विभावानुभावव्यभिचारिमुखेन रत्यादिप्रतिपत्तिरुपजायमाना नयमिव वाच्या स्यात् यथा कुमारसम्भवे ।

विवृण्वती शैलसुतापि भावम्
अङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः ।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ
मुखेन पर्यस्तविलोचनेन ॥

इत्यादावनुरागस्य भावस्याभिधेयतानुभावद् विरिरचालक्षणविभावोपवर्णना-देवास्मव्यर्थोऽपि शृङ्गारप्रतीतिस्सेति । रसान्तरेष्वप्येवमेव न्याय । न चैवम् रसेष्वेव भावद् वस्तुमात्रेऽपि । यथा ।

[1]भम धम्मिअ वीसद्धो सो सुणओ अज्ज मारिओ तेण ।
गोलाणइकच्छकुडङ्गवासिणा दरिअसीहेण ॥

इत्यादौ निषेधप्रतिपत्तिरत्रापि व्यञ्जनव्यापारमूलैव ।
तथाऽलङ्कारेष्वपि ।

लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि ।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः ॥

इत्यादिषु चन्द्रतुल्यं तन्मीतिसमानधर्मित्वमित्याद्युपमाद्यलङ्कारप्रतिपत्ति-र्व्यञ्जनव्यापाराधीनेति । न चाऽत्रानुमितिसम्भवः । अनुपपत्तिसमानार्था-पेक्षाभावात् । नाऽपि वाच्यार्थस्य व्यङ्ग्यस्य तृतीयकक्षाविषयत्वात् । तथाहि । भ्रम धार्मिकेत्यादौ पदार्थविषयाभिधानलक्षणप्रथमकक्ष्यातिक्रान्त-क्रियाकारकसम्बन्धविशिष्टविषयवाक्यार्थबोधातिक्रान्ततृतीयकक्षामागतो निषेधात्मा व्यङ्ग्यलक्षणोऽर्थो व्यञ्जनव्यापारैकसाध्य इति स्फुटमेवावभासते ।

१ भ्रम धार्मिक विस्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन ।
गोदावरीनदीकूललतागहनवासिना दृप्तसिंहेन ॥

विभावत्वेन तु रामादेर्वर्तमानवदवभासनमिष्यत एव। किञ्च न काव्यं रामादीनां रसोपजननाय कविभिः प्रवर्त्यते। अपि तु सहृदयानानन्दयितुम्। स च समस्तभावकस्वसंवेद्य एव। यदि चानुकार्यस्य रामादेः शृङ्गारः स्यात् ततो नाटकादौ तद्दर्शने लौकिक इव नायके शृङ्गारिणि स्वकान्ता-संयुक्ते दृश्यमाने शृङ्गारवानयमिति प्रेक्षकाणां प्रतीतिमात्रं भवेन् न रसानां स्वादः सत्पुरुषाणां च लज्जेतरेर्ष्यानुरागापहारेच्छादयः प्रसज्येरन्। एवं च सति रसादीनां व्यङ्ग्यत्वमपास्तम्। अन्यतो लब्धसत्ताकं वस्त्वन्येनाऽपि व्यज्यते। प्रदीपेनेव घटादि। न तु तदानीमेवाभिव्यञ्जकाभिमतैरापाद्यस्वभावम्। भाव्यन्ते च विभावादिभिः प्रेक्षकेषु रसा इत्यावेदितमेव।

ननु च सामाजिकाश्रयेषु रसेषु को विभावः। कथं च सीतादीनां च देवीनां विभावत्वेनाऽविरोध उच्यते।

धीरोदात्ता रसिकस्य ते ॥१८॥

न हि कवयो योगिन इव ध्यानचक्षुषा ध्यात्वा प्रातिस्विकीं रामादीनामवस्थामितिहासवदुपनिबध्नन्ति। किं तर्हि सर्वलोकसाधारण्याः स्वोत्प्रेक्षाकृतसन्निधीर्धीरोदात्ताद्यवस्थाः क्वचिदाश्रयमात्रदायिन्यो विदधति।

ता रसहेतवः।

तत्र सीतादिशब्दाः परित्यक्तजनकतनयादिविशेषाः स्त्रीमात्रवाचिनः किमिवाऽनिष्टं कुर्युः। किमर्थं तर्ह्युपादीयन्त इति चेदुच्यते।

क्रीडतां दिभिः ॥१९॥

एतदुक्तं भवति। नात्र लौकिकशृङ्गारादिवत् स्त्र्यादिविभावादीनामुपयोगः। किं तर्हि प्रतिपादितप्रकारेण लौकिकरसविलक्षणत्वं नाट्यरसानाम्। यदाह। अष्टौ नाट्यरसाः स्मृता इति।

काव्यार्थ वार्यते।

नर्तकोऽपि न लौकिकरसेन रसवान् भवति। तदानीं भोग्यत्वेन स्वमहिलादेरग्रहणात् का काव्यार्थभावनया त्वस्मदादिवत् काव्यरसास्वादो ऽस्यापि न वार्यते।

कथं च काव्यात् स्वादोद्भूतिः किमात्मा चासाविति व्युत्पाद्यते ।

स्वादः   समुद्भवः ॥४०॥

विकास   क्रमात् ॥४१॥

हास्याद्भुत   धारणम् ॥४२॥

काव्यार्थेन विभावादिसंसृष्टस्थाय्यात्मकेन भावकचेतसः सम्भेदेऽन्योन्य-संवलने प्रत्यस्तमितस्वपरविभागे सति प्रबलतरस्वानन्दोद्भूतिः स्वादः । तस्य च सामान्यात्मकत्वेऽपि प्रतिनियतविभावादिकारणजन्यत्वेन सम्भेदेन चतुर्धा चित्तभूमयो भवन्ति । तद् यथा । शृङ्गारे विकासो वीरे विस्तरो बीभत्से क्षोभो रौद्रे विक्षेप इति तदन्येषां चतुर्णां हास्याद्भुतभयानक-करुणानां स्वसामग्रीलब्धपरिपोषाणां त एव चत्वारो विकासाद्याश्चेतसः सम्भेदाः । अतएव ।

शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः ।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः ॥

इति । हेतुहेतुमद्भाव एव सम्भेदापेक्षया दर्शितो न कार्यकारणभावा-भिप्रायेण तेषां कारणान्तरजन्यत्वात् ।

शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्य इति कीर्तितः ।

इत्यादिना विकासादिसम्भेदैकत्वस्यैव स्फुटीकरणादवधारणमप्यत एवास्ता-विति सम्भेदानां भावात् । ननु च युक्तं शृङ्गारवीरहास्यादिषु प्रमोदा-त्मकेषु वाक्यार्थसम्भेदादानन्दोद्भव इति । करुणादौ तु दुःखात्मकत्वे कथ-मिवासौ प्रादुष्यात् । तथाहि । तत्र करुणात्मककाव्यश्रवणाद् दुःखावि-र्भावोऽश्रुपातादयश्च रसिकानामपि प्रादुर्भवन्ति । न चैतदानन्दात्मकत्वे सति युज्यते । सत्यमेतत् । किन्तु तादृश एवासावानन्दः सुखदुःखात्मको यथा प्रहरणादिषु सम्भोगावस्थायां कुट्टमिते स्त्रीणामन्यश्च लौकिकात् करुणात् काव्यकरुणः । तथाह्युत्तरोत्तरा रसिकानां प्रवृत्तयः । यदि च लौकिककरुणवद् दुःखात्मकत्वमेवेह स्यात् तदा न कश्चित् तत्र प्रवर्तेत । तत एव करुणैकरसानां रामायणादिमहाप्रबन्धानामुच्छेद एव भवेत् अश्रुपाता-दयश्चेति वृत्तवर्णनाकर्णनेन विनिपातितेषु लौकिकवैक्लव्यदर्शनादिवत्

प्रेक्षकाणां प्रादुर्भवन्तो न विरुध्यन्ते । तस्माद् रसान्तरवत् करुणस्यास्वा-
दात्मकत्वमेव ।

ननु शान्तरसस्यानभिनेयत्वाद् यद्यपि नाट्येऽनुप्रवेशो नास्ति तथापि
सूक्ष्मातीतादिवस्तूनां सर्वेषामपि शब्दप्रतिपाद्यताया विद्यमानत्वात् काव्य-
विषयत्वं न निवार्यते । अतस्तदुच्यते ।

शम   तदात्मता ।

शान्तो हि यदि तावत् ।

> न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता
> न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा ।
> रसस्तु शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः
> सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः ॥

इत्येवंलक्षणस्तदा तस्य मोक्षावस्थायामेवात्मस्वरूपापत्तिलक्षणायां प्रादु-
र्भावात् तस्य च स्वरूपेणानिर्वचनीयता । तथाहि श्रुतिरपि स एष नेति
नेत्यन्यापोहरूपेणाह । न च तथाभूतस्य शान्तरसस्य सहृदयाः स्वादयितारः
सन्त्यथ तदुपायभूतो मुदितामैत्रीकरुणोपेक्षादिलक्षणस्तस्य च विकास-
विस्तारक्षोभविक्षेपरूपतैवेति । तदुक्त्यैव शान्तरसास्वादो निरूपितः ।

इदानीं विभावादिविषयावान्तरकाव्यव्यापारप्रदर्शनपूर्वकं प्रकरणोप-
संहारं प्रतिपाद्यते ।

पदार्थै   गतैः ॥४६॥

भावितः   परिकीर्तितः ।

पदार्थैरिन्दुनिर्वेदरोमाञ्चादिरूपैर्विशिष्टैरालम्बनोद्दीपनविभावैः अत्र
काव्यप्रवृत्तिभिरालम्बनविभावैर्निर्वेदादिभिर्व्यभिचारिभावैः रोमाञ्चाद्यनुभ-
वरूपैः सात्त्विकैरनुभावैरपान्तरव्यापारतया पदार्थीभूतैर्वाक्यार्थः स्थायीभावो
विभाविताः भावनावतामानीतः स्वदते स रस इति प्राकृतप्रकरणे तात्पर्यम् ।

विषयमत्रमनुपपन्नम् । तथाऽन्यार्थेन स्थायिना रत्यादीनां शृङ्गा-
रादीनां च पृथक् सत्त्वानि विभावादिप्रतिपादनेनोदितानि । अथ तु ।

नवस्वीत्थ   दयो ॥४७॥

कियत इति वाक्यशेषः ।

तत्र तावत् शृङ्गारः ।

रम्यदेश विचेष्टितैः ॥४६॥

इत्थमुपनिबध्यमानं काव्यं शृङ्गारास्वादाय प्रभवतीति । कम्मुपदेश परमेतत् ।

तत्र देशविभावो यथोत्तररामचरिते ।

> स्मरसि सुतनु तस्मिन् पर्वते लक्ष्मणेन
> प्रतिविहितसपर्यासुस्थयोस्तान्यहानि ।
> स्मरसि सरसतीरां तत्र गोदावरीं वा
> स्मरसि च तदुपान्तेष्वावयोर्वर्तनानि ॥

कलाविभावो यथा ।

> हस्तैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
> पादन्यासैर्लयमुपगतस्तन्मयत्वं रसेषु ।
> शाखायोनिर्मृदुरभिनयः षड्विकल्पोऽनुवृत्तौ
> भावे भावे नुदति विषयान् रागबन्धः स एव ॥

यथा च ।

> व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना दशविधेनाप्यत्र लब्धामुना
> विस्पष्टो द्रुतमध्यलम्बितपरिच्छिन्नस्त्रिधायं लयः ।
> गोपुच्छप्रमुखाः क्रमेण यतयस्तिस्रोऽपि सम्पादिता
> स्तत्त्वौघानुगताश्च वाद्यविधयः सम्यक् त्रयो दर्शिताः ॥

कालविभावो यथा कुमारसम्भवे ।

> असूत सद्यः कुसुमान्यशोकः स्कन्धात् प्रभृत्येव सपल्लवानि ।
> पादेन नान्वैक्षत सुन्दरीणां सम्पर्कमाशिञ्जितनूपुरेण ॥

तत्रैव ।

> मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे
> पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः ।
> शृङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं
> मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः ॥

वेषविभावो यथा तत्रैव ।

अशोकनिर्भर्त्सितपद्मराग-
माकृष्टहेमद्युतिकर्णिकारम् ।
मुक्ताकलापीकृतसिन्दुवारं
वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती ॥

उपभोगविभावो यथा ।

चक्षुर्लुप्तमषीकणं कवलितस्ताम्बूलरागोऽधरे
विश्रान्ता कबरी कपोलफलके लुप्तेव गात्रद्युतिः ।
जाने सम्प्रति मानिनि प्रणयिना कैरप्युपायक्रमै-
र्भग्नो मानमहातरुस्तरुणि ते चेतःस्थलीवर्धितः ॥

प्रमोदात्मा रतिर्यथा मालतीमाधवे ।

जगति जयिनस्ते ते भावा नवेन्दुकलादयः
प्रकृतिमधुराः सन्त्येवान्ये मनो मदयन्ति ये ।
मम तु यदियं याता लोके विलोचनचन्द्रिका
नयनविषयं जन्मन्येकः स एव महोत्सवः ॥

युवतिविभावो यथा मालविकाग्निमित्रे ।

दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्तिवदनं बाहू नतावंसयोः
संक्षिप्तं निबिडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव ।
मध्यः पाणिमितो नितम्बि जघनं पादावरालाङ्गुली
छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसः स्पृष्टं तथास्या वपुः ॥

दर्शनविभावो यथा मालतीमाधवे ।

भूयो भूयः सविधनगरीरथ्यया पर्यटन्तं
दृष्ट्वा दृष्ट्वा भवनवलभीतुङ्गवातायनस्था ।
साक्षात् काम नवमिव रतिर्मालती माधवं यद्
गाढोत्कण्ठामुकुलितललितैरङ्गकैस्ताम्यतीति ॥

प यो मानुरागो यथा तत्रैव ।

यास्या मुहुर्वलितकन्धरमाननं तद्
आवृत्तवृन्तशतपत्रनिभं वहन्त्या ।
दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या
गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्षः ॥

मसृणाङ्गविचेष्टितं यथा तत्रैव ।

स्तिमितविकसितानामुल्लसद्भ्रूलतानां
मसृणमुकुलितानां प्रान्तविस्तारभाजाम् ।
प्रतिनयननिपाते किञ्चिदाकुञ्चितानां
विविधमहमभूवं पात्रमालोकितानाम् ॥

ये सत्त्वजाः स्थितम् ॥ ४६ ॥

त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिणश्चाष्टौ स्थायिनोऽष्टौ सात्त्विकाश्चेत्येकोन पञ्चाशत् । पुष्टाङ्गत्वेनोपनिबध्यमाना शृङ्गारं सम्पादयन्त्यन्यास्तु एतत्पुष्टावरणादीन्येकान्तसम्भवविभावानुभावत्वेन साक्षादङ्गत्वेन चोपनिबध्यमानानि विरुध्यन्ते । प्रकारान्तरेण चाविरोधः प्राक् प्रतिपादित एव ।

विभागस्तु ।

अयोगो विधा ।

अयोगविप्रयोगविशेषत्वात् विप्रलम्भस्यैतत् सामान्याभिधायित्वेन विप्रलम्भशब्द उपचरितवृत्तिर्मुख्यवृत्तिः न प्रयुक्त । तथाहि । दत्त्वा सङ्केतमप्राप्तेऽवध्यतिक्रमे साम्येन नायिकान्तरानुसरणात् च विप्रलम्भशब्दस्य मुख्यप्रयोगो वञ्चनार्थत्वात् ।

तत्रा ऽसङ्गमः ॥ ४७ ॥

योगोऽन्योन्यस्वीकारस्तदभावस्त्वयोग । पारतन्त्र्येण विप्रकर्षाद् दैव पित्राद्यायत्तत्वात् सागरिकामालत्योर्वत्सराज माधवाभ्यामिव दैवाद् गौरी-शिवयोरिवाऽसमागमोऽयोग ।

दशावस्थः ऽयथोत्तरम् ॥ ४८ ॥

अभिलाष ऽसाध्वसा ॥ ४९ ॥

सात्त्वान्   कुलस्तुते ॥ ९ ॥
अभिलाषो यथा शाकुन्तले ।

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा
यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः ।
सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु
प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥

विस्मयो यथा ।

स्तनाभोगोऽस्य तन्वङ्गया शिरः कम्पयते बुधा ।
तयोरन्तरनिर्मग्ना बुद्धिर्मुक्तास्वपन्निव ॥

आनन्दो यथा विद्धशालभञ्जिकायाम् ।

मुक्ताकल्पप्रालेयपटलपटलैः कवलिता
किरन् ज्योत्स्नामच्छां नवविकलपाकप्रणयिनीम् ।
उपप्राकारार्थं प्रहिणु नयने तर्कय मनाग्
अनाकाशे कोऽयं गलितहरिणः शीतकिरणः ॥

साध्वसं यथा कुमारसम्भवे ।

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टि-
र्निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती ।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ॥

यथा वा ।

व्याहृता प्रतिवचो न संदधे
गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका ।
सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी
सा तथापि रतये पिनाकिनः ॥

एषु   दर्शिता ।
गुणकीर्तनं तु स्पष्टत्वान्न व्याख्यातम् ।
यथा   'तवतन्वता ॥ ११ ॥

दिङ्मात्रं तु ।

इत्ये चिन्तनात् ॥ ६२ ॥

शेषं प्रच्छन्नकामितादि कामसूत्रादवगन्तव्यम् ।

अथ विप्रयोगः ।

विप्रयोगस्तु प्रवासेर्ष्ययोः ॥ ६३ ॥

प्राप्तयोरप्राप्तिर्विप्रयोगः । तस्य द्वौ भेदौ मानः प्रवासश्च । मानविप्रयोगोऽपि द्विविधः प्रणयमान ईर्ष्यामानश्चेति ।

तत्र योर्द्वयोः ।

प्रेमपूर्वको वशीकारः प्रणयस्तद्भङ्गो मानः प्रणयमानः । स च द्वयोर्नायकयोर्भवति । तत्र नायकस्य यथोत्तररामचरिते ।

> अस्मिन्नेव लतागृहे त्वमभवस्तन्मार्गदत्तेक्षणः
> सा हंसैः कृतकौतुका चिरमभूद् गोदावरीसैकते ।
> आयान्त्या परिदुर्मनायितमिव त्वां वीक्ष्य बद्धस्तया
> कातर्यादरविन्दकुड्मलनिभो मुग्धः प्रणामाञ्जलिः ॥

नायिकाया यथा श्रीवाक्पतिराजदेवस्य ।

> प्रणयकुपितां दृष्ट्वा देवीं ससम्भ्रमविस्मित-
> स्त्रिभुवनगुरुर्भीत्या सद्यः प्रणामपरोऽभवत् ।
> नमितशिरसो गङ्गालोके तया चरणाहता-
> ववतु भवतस्त्र्यक्षस्यैतद् विलक्षमवस्थितम् ॥

उभयोः प्रणयमानो यथा ।

> पणयकुविआण दोह्णवि अलिअपसुत्ताण माणइल्लाणम्[1] ।
> णिच्चलणिरुद्धणीसासदिण्णअण्णाण को मल्लो ॥

स्त्रीणा पुनः ॥ ६४ ॥

ततस्तस्या योषितः ॥ ६५ ॥

ईर्ष्यामानः पुनः स्त्रीणामेव नायिकान्तरसङ्गिनि स्वकान्ते उपलब्ध

---

1 प्रणयकुपितयोर्द्वयोरप्यलीकप्रसुप्तयोर्मानवतोः ।
निश्चलनिरुद्धनिःश्वासदत्तकर्णयोः को मल्लः ॥

यथोत्तरं रसान्तरं ॥ २६ ॥

तत्र 'नतिः ॥ २७ ॥

सामादौ 'पादिताः ॥ २८ ॥

तत्र प्रियवचः साम यथा ममैव ।

> स्मितज्योत्स्नाभिस्ते धवलयति विश्वं मुखशशी
> दृशस्ते पीयूषद्रवमिव विमुञ्चन्ति परितः ।
> वपुस्ते लावण्यं किरति मधुरं किं तदधिकं
> कुतस्ते पारुष्यं सुतनु हृदयेनाद्य गुणितम् ॥

[यथा वा ।

इन्दीवरेण नयनं मुखमम्बुजेन कुन्देन दन्तमधरं नवपल्लवेन ।
अङ्गानि चम्पकदलैः स विधाय वेधाः कान्ते कथं रचितवानुपलेन चेतः]

नायिकासखीसमावर्जनभेदो यथा ममैव ।

> कृतेऽप्याज्ञाभङ्गे कथमिव मया ते प्रणतयो
> धृताः स्मित्वा हस्ते विसृजसि रुषं सुभ्रु बहुशः ।
> प्रकोपः कोऽप्यन्यः पुनरयमसीमाद्य गुणितो
> वृथा यत्र स्निग्धाः प्रियसहचरीणामपि गिरः ॥

दानं व्याजेन भूषादेर्यथा माघे ।

> महुरुपहसितामिवालिनादै-
> र्वितरसि न कलिकां किमर्थमेनाम् ।
> अधिरजनि गतेन धाम्नि तस्याः
> शठ कलिरेव महांस्त्वयाद्य दत्तः ॥

पादयोः पतनं नतिर्यथा ।

'नीवारकोटिविलग्नं चिकुरं दयितस्य पादपतितस्य ।
हिययं माणपउत्थं उम्मोयन्ति च्चिय कहेइ ॥

---

१ नूपुरकोटिविलग्नं चिकुरं दयितस्य पादपतितस्य ।
हृदयं मानपदोत्थमुन्मुक्तमित्येव कथयति ॥

स्वाय सप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधि । इति ।

> सर्वाङ्गीणविमुक्तसन्धिविवरव्यक्त स्फुरत्कौस्तुभ
> निर्यन्नाभिसरोजकुड्मलकुटीगम्भीरसामध्वनि ।
> पात्रावाप्तिसमुत्सुकेन बलिना सानन्दमालोकितं
> पायाद् वः क्रमवर्धमानमहिमाश्चर्यं मुरारेर्वपुः ॥

यथा च ममैव ।

> लक्ष्मीपयोधरोत्सङ्गकुङ्कुमारुणितो हरेः ।
> बलिरेष स येनास्य भिक्षापात्रीकृतः करः ॥

विनयादिषु पूर्वमुदाहृतमनुसन्धेयम् । प्रतापगुणावर्जनादिना वीरत्वा-मपि भावात् नैव प्रायोवादः । प्रस्वेदरक्तवदननयनादिक्रोधानुभावरहितो युद्धवीरोऽन्यथा रौद्रः ।

अथ बीभत्सः ।

बीभत्सः   [illegible]रसः ।

अत्यन्ताहृद्यैः कृमिपूतिगन्धिप्रायैर्विभावैरुद्भूतो जुगुप्सास्थायिभाव-परिपोषणलक्षण उद्वेगी बीभत्सः । यथा मालतीमाधवे ।

> उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूच्छोफभूयांसि मांसा-
> न्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्ड्याद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा ।
> आर्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करङ्का-
> दङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति ॥

रुधिरान्त्रवसाकीकसमांसादिविभावः क्षोभणो बीभत्सः । यथा वीरचरिते ।

> अन्त्रप्रोतबृहत्कपालनलकक्रूरक्वणत्कङ्कण-
> प्रायप्रेङ्खितभूरिभूषणरवैराघोषयन्त्यम्बरम् ।
> पीतोच्छर्दितरक्तकर्दमघनप्राग्भारघोरोल्लसद्-
> व्यालोलस्तनभारभैरववपुर्दर्पोद्धतं धावति ॥

रम्येष्वपि रमणीजघनस्तनादिषु वैराग्याद् घृणाशुद्धो बीभत्सः । यथा ।

स्नातं सकलैः सरलनयनं विभ्रापूर्णं वल्कलं
शीतासोषणहारि कल्पितमहो रम्यं वपुः कामिनः ॥

परस्थो यथा ।

भिक्षो मांसनिषेवणं प्रकुरुषे किं तेन मद्यं विना
किं ते मद्यमपि प्रियं प्रियमहो वाराङ्गनाभिः सह ।
वेश्याप्यर्थरुचिः कुतस्तव धनं द्यूतेन चौर्येण वा
चौर्यद्यूतपरिग्रहोऽपि भवतो नाशस्य काऽन्या गतिः ॥

स्मितमिह 'हसितम् ॥७० ॥

अपहसितं 'क्रमात् ॥७१॥

उत्तमस्य स्वपरस्थविकारदर्शनात् स्मितहसिते मध्यमस्य विहसितो पहसिते ऽधमस्याऽपहसितातिहसिते । उदाहृतयः स्वयमुत्प्रेक्ष्याः । व्यभिचारिणश्चास्य ।

निद्रा 'चारिणः ॥७२॥

लोकसीमातिवृत्तपदार्थवर्णनादिविभावितः साधुवादाद्यनुभावपरिपुष्टो विस्मयः स्थायिभावो हर्षावेगादिभावितो रसोऽद्भुतः । यथा ।

दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्यत
ष्टङ्कारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिमः ।
द्राक्पर्यस्तकपालसम्पुटमितब्रह्माण्डभाण्डोदर
भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमसौ नाद्यापि विश्राम्यति ॥

इत्यादि ।

अथ भयानकः ।

विकृत 'सहोदरः ॥७३॥

रौद्रशब्दश्रवणाद् रौद्रसत्त्वदर्शनाद् च भयस्थायिभावप्रभवो भयानको रसः । तत्र सर्वाङ्गवेपथुप्रभृतयोऽनुभावाः । दैन्यादयस्तु व्यभिचारिणः । भयानको यथा माधुराहृतः ।

शस्त्रमेतत् समुत्सृज्य कुब्जीभूय शनैः शनैः ।
यथायथागतेनैव यदि शक्नोषि गम्यताम् ॥

यथा च रत्नावल्याम् । नष्टं वर्षवरैरित्यादि । यथा च ।

स्वगेहात् पन्थानं तत उपचितं काननमथो
गिरिं तस्मात् सान्द्रं गहनमस्मादपि गुहाम् ।
तदन्वङ्गान्यङ्गैरभिनिविशमानो न गणयन्
त्वराति कान्ताकीर्ते तव विजययात्रा चकितधीः ॥

अथ करुणः ।

इष्ट निःश्वासः ॥८१॥

स्वापाप — चारिणः ॥८२॥

इष्टस्य बन्धुप्रभृतेर्विनाशादनिष्टस्य तु बन्धनादेः प्राप्त्या शोकप्रकर्षज-करुणः । तमनु निःश्वासादयोऽनुभावाः व्यभिचारिणश्च स्वापापस्मारादयः । इष्टनाशात् करुणो यथा कुमारसम्भवे ।

अयि जीवितनाथ जीवसीत्यभिधायोत्थितया तया पुरः ।
ददृशे पुरुषाकृति क्षितौ हरकोपानलभस्म केवलम् ॥

इत्यादि रतिप्रलापः । अनिष्टावाप्तेः सागरिकाया बन्धनाद् यथा रत्नावल्याम् ।

प्रीति कीर्तिताः ॥८३॥

स्पष्टम् ।

षट् तेषु च ॥८४॥

विभूषणं चाक्षरसंहतिश्च शोभाभिमानौ गुणकीर्तनं च ।

इत्येवमादीनि षट्त्रिंशत्काव्यलक्षणानि । साम भेदः प्रदानं चेत्येवमादीनि सन्ध्यन्तराण्येकविंशतिः समाविशन्त्यासु कुर्वन्त्येषु हर्षोत्साहादिष्वन्तर्भावान् न पृथगुक्तानि ।

रम्यं लोके ॥८५॥

विष्णोः मेतत् ॥८६॥

इति श्रीविष्णुसूनोर्धनिकस्य कृतौ दशरूपावलोके रसविचारो नाम चतुर्थः प्रकाशः समाप्तः ॥